मानव मन्दिर

12/92

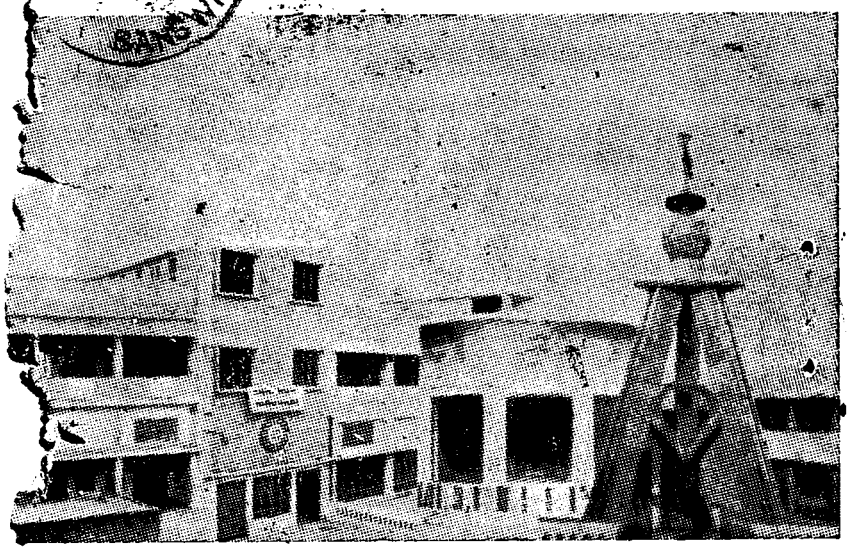

FORM 1

(See Rule 8)

Place of Publication	Hoshiarpur.
Date of Publication	10th of every month
Periodicity of publication	Monthly
Printer's Name	Ravi Nanda
Nationality	Indian
Address	Manavata Mandir, Hoshiarpur.
Editor's Name	Ravi Nanda
Nationality	Indian
Address	Manavata Mandir, Sutehti Road, Hoshiarpur.
Name and address of individuals, who own the Manav Mandir or partners or shareholders, holding more than one percent of the total	Faqir Library Charitable Trust, Hoshiarpur.

I, Ravi Nanda hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Dated : 10

Signature of Publisher

Printed and Published by : Ravi Nanda at Shiv Dev Rao Press, Manavta Mandir, Hoshiarpur for the Faqir Library Charitable Trust, Hoshiarpur.

मानवता मन्दिर में अगला मासिक सत्संग 20-12-92 को होगा

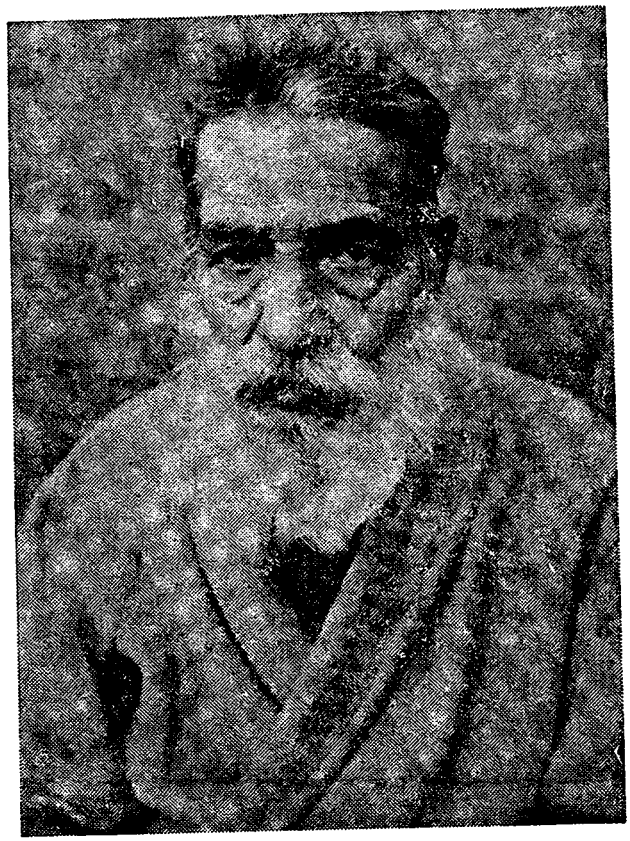

Param Sant Param Dayal
Pt. Faqir Chand Ji Maharaj

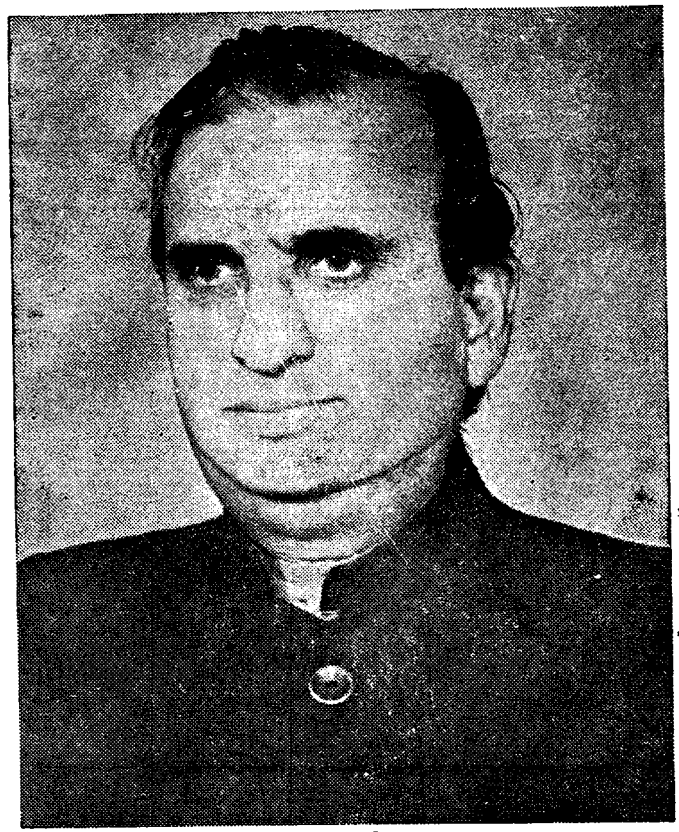

Param Sant Manav Dayal
Dr. I. C. Sharma Ji Maharaj

गुरु महिमा अपरम्पार, अगम आधार

परमसन्त परमदयाल पण्डित फ़कीर चन्द जी महाराज

का

16 जनवरी 1969 में दिया गया सत्संग (बम्बई में)

शब्द

गुरु महिमा अगम अपार, गुरु गति कौन कहे री।
बिन गुरु कर्म न धर्म कुछ, बिन गुरु भक्ति न ज्ञान॥
जन्म - 2 जम फांस है, बिन गुरु नहीं निर्वान।
चरन गुरु सिर धार, शुद्धमति सोई लहे री॥ गुरु.
देवी देवा ऋषि मुनि, सुर नर साध सुजान।
हंस वंस अवतार सब, गुरु महिमा को जान॥
गुरु है सत करतार, गुरु बिन कौन रहे री॥ गुरु.
राम कृष्ण के गुरु हैं, गुरु मत गुरु वषिष्ठ।
सन्त कबीर ने गुरु किया, गुरु हैसब के इष्ट॥

बिन गुरु भव जल धार, निगुरे सकल वही री ।। गुरु.
दुःख कलेश आपत्ति विपत्ति, चहुं दिस जग में व्याप ।
जीव छुड़ावन सद्गुरु प्रगटे आप ही आप ।।
सब का किया उद्धार, जो कोई शरन चहे री ।। गुरु.
राधास्वामी आदि गुरु परम दयाल प्रवीन ।
अभय करें, पद भक्ति दें, तारें जीव अधीन ।।
नहीं उसका वारा पार, जो गुरु भक्ति लहे री ।। गुरु.

गुरु नाम है ज्ञान का, विवेक का । इस शब्द में कहा गया है :--

"देवी देवा ऋषि मुनि, सुर नर साध सुजान ।
हंस वश अवतार सब, गुरु महिमा को जान ।।

मैं समझता हूं कि इस दुनिया में जिसका भी जीवन बनता है, वह बिना समझ, विवेक या बुद्धि तथा अनुभव के नहीं बनता । विवेक या परखने की शक्ति या तत्त्व हर एक चीज़ में विद्यमान रहता है । देवता भी सोचते हैं, देवियां भी सोचती हैं, गन्धर्व भी सोचते हैं, छोटे - 2 कीड़े मकौड़े, मछलियाँ, पशु, पक्षी सभी सोचते हैं । सभी में बुद्धि का तत्त्व मौजूद रहता है ।

क्या कोई यह कह सकता है या बता सकता है कि यह जो बुद्धि तत्त्व है, ज्ञान तत्त्व है अथवा अनुभव तत्त्व है, चाहे उसके रूप पृथक - 2 क्यों न हों कितना अगम अपार है ? क्या किसी में शक्ति है कि जो कुछ हमारे अन्दर विवेक (तमीज़ मादा) है, बताए कि वह क्या है ? शरीर में रहते हुए विवेक या परखने की शक्ति, आत्मा के रहते हुए और आत्मा

से आगे परमात्मा में रहते हुए विवेक और शारीरिक भान के परखने की शक्ति और उस प्रकाश को देखते समय जो बोध होता है, चेतना आती है वह और शब्द को सुनते समय जो अनुभव पैदा होता है, क्या आप इनका वर्णन कर सकते हैं ? नहीं न ? तो फिर गुरु की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है कौन उसकी महिमा को गा सकता है ? बाबा फ़कीर, बाबा सावन सिंह जी, दाता दयाल जी महाराज, गुरु नानक देव जी, कबीर साहिब, स्वामी जी महाराज के गुणों का तो तुम वर्णन कर सकते हो, परन्तु जो असली ज्ञानरूपी गुरु है उसका वर्णन आपके शब्द नहीं कर सकते। जब तक आपको असली ज्ञान जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक ज्ञान से भी परे है नहीं होगा आप भवसागर से पार नहीं जा सकते। इस शब्द में एक कड़ी है :--

बिन गुरु कर्म न धर्म कुछ, बिन गुरु भक्ति न ज्ञान।
जन्म - 2 जम फांस है, गुरु बिन नहिं निर्वान ॥

अहा ! कहा गया है कि बिना गुरु के निर्वाण नहीं है। तो फिर गुरु क्या हुआ ? ज्ञान हुआ न।

जब तक मनुष्य को मन के खेलों की या संकल्पों के जो चेतना या ज्ञान हमारे अन्दर होता है उसका ज्ञान नहीं होता, आत्मा के अन्दर प्रकाश की जो चेतना है, जब तक उसका ज्ञान नहीं हो जाता, शब्द के सुनते समय, जो चेतना होती है, उसका ज्ञान नहीं हो जाता, जब तक ज्ञान दाता गुरु के विस्तृत, अगम, अपार रूप का अनुभव नहीं हो जाता निर्वाण नहीं हो सकता।

इस गुरु के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए, जीव को अपने

ही शरीर में प्रविष्ट हो कर, गुरु के दर्शन करने, गुरु को जानने, गुरु को पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिए। बाबा सावन सिंह जी महाराज कहा करते थे "अन्तर बढ़ो और परदा खोलो।" वह पर्दा क्या है? हमारे शारीरिक, हमारे मानसिक, हमारे आत्मिक तथा हमारे पारमार्थिक जितने भी भजन बोध हैं उनको प्राप्त करने के लिए अन्तर बढ़ने का आदेश है, ताकि तुम्हें गुरु के असली दर्शन मिल जायें और तुम्हारा भवसागर समाप्त हो जाय।

अगर हर व्यक्ति को गुरु के दर्शन अपने अन्तर में न होते, तो बाबा सावन सिंह जी महाराज यह न कहते कि अन्तर की ओर बढ़ो और परदा खोलो। सन्त कहते हैं कि गुरु तो तुम्हारे घट में है। मैं भी तो गुरु को पूजता हूं। दाता कहा करते थे :--

गुरु तो तेरे पास फ़कीरा, गुरु तो तेरे पास।
तेरे तन में तेरे मन में तेरे स्वासों स्वास॥

दुनिया मूर्ख है, जो गुरु की देह को पूजती है। बाबा फ़कीर चन्द जी की देह को या बाहरी गुरु की देह को गुरु मानती है। बाहर का गुरु तो तुम्हारे अन्तर में बसे हुए असली गुरु से साक्षात् करने का रास्ता और तरीका बताता है और तुम्हारा सहायक होता है।

जब तक सुरत बहिर्मुखी रहती है और मनुष्य बाहर की रचना तथा ऊपर की रचना का अनुमान करता रहता है, वह भूल-भुलैयां में ही रहता है। जब तुम्हें अन्तिम पद या अवस्था का अनुभव हो जाता है, तो देह, मन, आत्मा और परमात्मा में जो तुम्हारा आपा फँसा हुआ था, वह फँसाव या बन्धन टूट जाते हैं। दुःख, सुख, नेकी, बदी, पाप-पुण्य

धर्म-कर्म मनुष्य सभी से स्वतन्त्र हो जाता है। हां प्यारे मास्टर मोहन लाल! सुन रहे हो न। बात बहुत ऊँची है जिसका समझना कठिन है। जो लोग इस अध्यात्म के रास्ते पर चलने प वाले हैं वह ही इसे समझ सकते हैं।

"निर्वाण" संस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ है फूंक मार कर उड़ा देना। निर्वाण क्या है? मेरा अपना आपा, अपना निज स्वरूप। मैं ऐसी अवस्था में रहने का प्रयास करता हूं जहां न देह के भान हैं, न मन के भान हैं न आत्मा का बोध है। न वहाँ ईश्वर के अस्तित्व का ध्यान रहता है न परमात्मा का ख़्याल। ऐसी अवस्था या दशा क्या है? वह है मेरा निज स्वरूप, जहां से मैं आया था। क्यों आया था? मौज! जिस प्रकार मौज ने समुद्र में करोड़ों पशु पैदा कर दिए, जिस तरह सूर्य, चन्द्रमा, तारागण पैदा कर दिए, उसी तरह से मौज ने मुझे भी पैदा कर दिया या बना दिया, यहां भेज दिया। हां तो मैं आपको बता रहा था कि गुरु की महिमा क्या है?

गुरु महिमा अगम अपार, गुरु गति कौन कहे री। ...

गुरु की महिमा अपरम्पार है उसकी महिमा को गाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। ये बाहर के गुरु-चेलों का जो आपस में सम्बन्ध है, वह संसार का व्यवहार है जैसा कि मां, बाप, भाई-बहन, चाचा, ताऊ आदि के व्यवहार होते हैं। बाहरी गुरु का यह फ़र्ज है कि वह आपको उस व्यवहार के रखते हुए भी कुछ सार भेद दे। उस पर अमल करना या न करना तुम्हारा काम है। मुझे तो मेरे परम गुरु ने यह आशीर्वाद दिया था "फ़कीरा जा भव पारा" मैं तो गुरु

को कृपा से भव सागर से पार हो गया। पिछले जन्म के कुछ खेल हैं, -ह मैं खेलता हूं। आशा करता हूं कि वापिस मुड़ कर नहीं आऊंगा। आगे उसके ही हाथ में है। ऐ मेरे प्यारे लोदामल! अभ्यास किया करो। यह तुम्हारे पिछले जन्मों के कर्मों का खेल है कि तुम सेठ बने हो। जीवन को राजा जनक की तरह खेलो। यही मेरी शिक्षा है, यही मेरा नामदान है। मैंने रहस्य खोल दिया, जीवन को सरल बना दिया। यह सहजयोग है। दुनिया चक्करों में फंस गई, कठिन विषय को मैंने आसान कर दिया। मैं आप सबको आशीर्वाद देता हूं और सच्चे दिल से चाहता हूं कि आपका यह जन्म वृथा न जाय और आवागमन से आपका छुटकारा हो जाय। बाकी रही बात तुम्हारे इस जीवन की। उसे हंसी खुशी से जियो अपने प्रारब्ध कर्मों को भोगो।

मुझे अपने निज घर वापिस जाने की तड़प थी, लगन थी। छोटी उम्र से यही लालसा थी कि मैं उस मालिक से मिलूं, जहां से मैं आया हूं। कोई विरले ही मनुष्य ऐसे होते हैं, जो इस रास्ते पर आते हैं। जिस तरह इस दुनिया में मांग और पूर्ति (Demand and Supply) के नियम के आधीन किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए, कोई दूसरी शक्ति आ जाती है, जो उस आवश्यकता को पूरी कर देती है। मेरी मांग या तड़प ने उस मांग और पूर्ति के नियम के आधीन मेरे गुरु दाता दयाल महर्षि शिवब्रतलाल जी महाराज को प्रगट कर दिया। आज उनकी ही कृपा से मैं जीवनमुक्त हो गया हूं।

तुम लोग देहसीं से आए हो। यह मेरा फ़र्ज है कि

मैं आपको बता दूं कि सच्चा गुरु कौन है। सच्चा गुरु या सद्गुरु है ज्ञान, अनुभव। वह कब प्राप्त होता है? जब आप साधन या अभ्यास करते हो, जब तुम अपने अन्दर जाते हो। मैं सच्चे दिल मे चाहता हूं कि आपको सच्चे गुरु के दर्शन हो जायें। मैं दाता को सदैव सद्गुरु मान कर उनसे प्रेम करता रहा, उनकी पूजा करता रहा। वह मुझे समझाते रहते, "बावरे फ़कीर! तू मेरे शरीर को ही गुरु मानता है असली गुरु तो तेरे अन्दर ही निवास करता है, तेरे पास रहता है, तेरे अंग-संग है। परन्तु उस समय मेरी समझ में नहीं आता था कि गुरु जब उपस्थित नहीं होता, तो मेरे पास कैसे रहता है। जिस प्रकार आप मुझे गुरु मानते हो, मुझ से प्यार करते हो, उसी प्रकार मैं भी दाता को अपना गुरु मानता था और उनसे प्यार करता था। वह मुझे प्यार से समझाया करते :--

गुरु तो तेरे फ़कीरा, गुरु तो तेरे पास।
त्याग भरम विचार मन का, छोड़ जग की आस।
आस रख ले गुरु चरन की, सब से होय निरास॥ फ़.
तेरे मन में तेरे तन में, तेरे स्वासों स्वास।
गुरु बसें दिन रात प्यारे, धर चरन विश्वास॥ फ़.
गुरु नहीं तीरथ बरत में, गुरु न योग अभ्यास।
ढूँढ अपने हृदय में नित, वहाँ उसका वास॥
कर्म में माया है व्यापी, धर्म यम की फाँस।
बन में अनबन देखी मन में, भ्रम था सन्यास॥
तेरी चिन्ता गुरु को होगी, क्यों है तुमको त्रास।
राधास्वामी चरन गहे, अज्ञान का कर नास॥

दाता ने बहुत समझाया, बहुत गूढ ज्ञान दिया, परन्तु उस समय बात पूरी तरह समझ में नहीं आती थी। उन्होंने मेरे साथ खेल किया। मुझे गुरु पदवी दी, ताकि अनुभव से निज अनुभव से मेरे अज्ञान का नाश हो जाय। मेरे भ्रम तथा संशय दूर हो जायें। परमतत्त्व के अवतार दाता दयाल की कृपा से आप लोगों के सम्पर्क में आने से, आपके अनुभवों के विषय में, आपके मुख से सुनकर तथा आपके पत्रों द्वारा पढ़ कर धीरे-2 मेरे भ्रम तथा शंकाएं जाती रहीं मुझे ज्ञान हो गया। आप जब कहते हैं कि मेरा रूप आपके अन्तर में प्रकट हो कर आपकी सहायता करता है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं किसी के अन्तर जाता नहीं और न ही किसी के काम करता हूं, तो इस एक ही बात से मेरी आखें खुल गईं कि आपकी सहायता करने कौन आता है। तो मैं अब दावे से कह सकता हूं कि आप ही मेरे अज्ञान को नष्ट करने वाले ज्ञान दाता हैं। मैंने जो सार, जो दौलत, जो ज्ञान का भेद दाता दयाल की कृपा से, गुरु पदवी पाने के बाद प्राप्त किया है, वह आपकी ही बदौलत पैदा किया है और अब वह आपकी दौलत सत्संगों द्वारा आपको ही लौटा रहा हूं, आपको ही समर्पित कर रहा हूं।

आपको जब मेरे रूप के दर्शन होते हैं और उस रूप से जो आपको मेरे द्वारा सहायता मिलती है, वह सब आपके अपने ही मन के कारण ही होता है। वह सब आपके मन का ही खेल है। जब मुझे इस बात का विश्वास हो गया, तो इससे इस बात का भी विश्वास हो गया कि मेरे अन्तर में जो दाता का रूप बनता था, जो मेरी समय-समय पर सहायता करता था, वह सब मेरे अपने ही मन का विश्वास था, अपने ही मन का खेल था।

इस ज्ञान के हो जाने के बाद मेरे अज्ञान का नाश हो गया, और मैं उस मंजिल तक पहुंचने के लिए विवश हो गया, जिसका नाम निर्वाण रखा गया है।

गुरु शिष्य के व्यवहार के विषय में भी दो शब्द कहना चाहूंगा। अधिकतर लोग गुरु के पास शिष्य बन कर इसलिए जाते हैं, कि उनका धन, धान्य मिले, मान मिले, सम्मान मिले तथा उनकी प्रसिद्धि हो, सन्तान मिले, बीमारियां दूर हो जायें, मुसीबतें टल जायें। अध्यात्म का ज्ञान लेने के लिए तो कोई बिरला ही आता है। आजकल अधिकतर गुरु भी ऐसे हैं, जिन्हें अध्यात्म की इतनी परवाह नहीं, जितनी कि अपने डेरे बनाने, गद्दियों को सुरक्षित रखने, सम्पति बनाने तथा मान तथा प्रशंसा बटोरने की चिन्ता है। मैं निर्भय होकर यह कह रहा हूं कि ऐसे गुरु, सच्चे गुरु नहीं हैं. वे तो स्वयं ही बंधुए हैं, बन्धन में जकड़े हुए हैं, वह शिष्यों को बन्धन की ज़जीरों से कैसे मुक्त कर सकते हैं? वह आपको सच्चा ज्ञान निर्भय हो कर कैसे दे सकते हैं? सच्चा ज्ञान तो केवल वही दे सकता है जिसका अपना कोई स्वार्थ नहीं हो, निर्भय भी वही हो सकता है जिसे अपना कोई स्वार्थ न हो। जो स्वयं स्वार्थ में फंसा हुआ है, आपसे चढ़ावे लेता है आपको स्वतन्त्र तथा निर्भय नहीं होने देता, वह आपको सच्चा ज्ञान कैसे दे सकता है? इसलिए बार-बार कहा जाता है कि पूर्ण गुरु को ढूंढो।

मेरे सत्संग में केवल वही आते हैं जिनके पिछले संस्कार जागे हुए हैं। आप जितने भी लोग यहां आए हो अपने संस्कारों तथा प्रारब्ध कर्मों के अनुसार ही यहां खिचे हुए आये हो। जिस प्रकार एक तपेदिक का

रोगी अपने कीटाणु छोड़ जाता है, उसी प्रकार एक निर्बन्ध पुरुष अच्छी रेडीएशन छोड़ता है। मेरी रेडीएशन का प्रभाव आज नहीं तो कल आप पर ज़रूर पड़ेगा। जब तक गुरु के अगम तथा अपार स्वरूप का आपको अनुभव नहीं होता, तब तक निर्वाण सम्भव नहीं। यह बात बिलकुल सत्य है, शतप्रति-शत सत्य है। अतः गुरु के अगम अपार रूप को पहचानो।

फ़कीर लायब्रेरी चैरीटेबल ट्रस्ट सुतैहरी रोड, होशियारपुर को दिया धन आयकर अधिनियम की धारा 80-जी, के अन्तर्गत, पत्र नं. ***JUDL TRUST 13999 dt. 1-12-91***, साल ***1993-94*** तक आयकर से मुक्त है।

R. S.

परम पुरुष पूर्णधनी संत सद्गुरु हिज़ होलीनेस हज़ूर मानव दयाल डा. ईश्वरचन्द शर्मा जी महाराज

मानवता मन्दिर,
सुतैहरी रोड,
होशियारपुर।
23-3-92

शब्द

धन्य धन्य गुरु परम सनेही, धन्य दीन हितकारी,
धन्य कृपाला सहज दयाला, भव भय मेटनहारी।
लीला अगम अपार अमाया, अद्भुत क्या कोई जाने,
ऋषि मुनि योगी पार न पावें, ज्ञानी नहिं पहिचाने।
अगुन सगुन के मध्य विराजे, नहीं ब्रह्म नहिं माया,
रूप अरूप के वरे परे तुम, नहिं प्रकाश नहिं छाया।
सब में व्याप्त तुम्हारी सत्ता, सत्त असत्त के पारा,
मन वानी की गम नहिं तुममें, सबमें सबसे न्यारा।
क्या कह करूं तुम्हारी स्तुति, अजर अमर अविनाशी,
निरालम्ब सबक आधारा, चेतन घन सुख राशी।

गो गोचर जहाँ लग मन जाई, सो नहिं देश तुम्हारा,
माया काल के परे ठिकाना, क्या कोई वरने पारा।
तत्त्व अतत्त्व असार सार नहिं, शब्द सुरत नहिं होई,
सन्त कहें तुम शब्द रूप हो, और अशब्द गति सोई।
ऊंची दृष्टि करे जो प्राणी, सार भेद कुछ पावे,
भेद पाय शरणागत आवे, आवागमन मिटावे।
दया करो करुणा चित लाओ, दो मोहि भक्ति विवेका,
राधास्वामी चरन शरन बलिहारी, रहूं शब्द मिल एका।

राधास्वामी !

राधास्वामी मत और संत मत प्रेम और भक्ति का मार्ग है। यह सभी धर्मों की सच्चाई को अपने में धारण किए हुए है। यह कोई सम्प्रदाय या फ़िरका नहीं है। राधा नाम है आत्मा का, प्रकृति का, और स्वामी नाम है पुरुष का, परमात्मा का। जिस समय इस संसार की रचना नहीं थी, उस समय परमतत्त्व उनमुनी अवस्था में अपने आप में गुप्त था। शब्द रूप में भी अभिव्यक्त नहीं हुआ था। इसलिए जब परम तत्त्व अपने आप में गुप्त था, कोई सृष्टि नहीं थी, उस अवस्था को अनाम कहते हैं।

'शब्द गुप्त तब रहा अनाम,
शब्द प्रगट तब धरिया नाम।'

जब वह अपने आप से, अपनी निज अवस्था से, अपनी ज़ात-ए-हस्ती से निकल कर प्रगट हुआ तो दो रूपों में हुआ-- शब्द और प्रकाश। शब्द व्यापक है। प्रकाश भी व्यापक है। लेकिन प्रकाश की रचना शब्द से होती है। इसलिए शब्द ऊंच है। शब्द से जब प्रकाश निकला, धारा बही, तो उस प्रकाश की धारा से कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, अनेक आकाश

गंगायें और दृश्य जगत् की रचना हुई। 'धारा' शब्द भी ध्वन्यात्मक शब्द है। और हम सभी आत्मायें या सुरतें स्वामी या शब्द से निकल कर इस धारा में आ गए। यह प्रकाश या ब्रह्म की धारा विकसित होती हुई चलती जा रही है। अनेकानेक ब्रह्माण्डों की रचना होती जा रही है। काल चलता जा रहा है। काल की चाल से परिवर्तन होते रहते हैं और इतिहास की रचना होती रहती है। अनेकानेक युद्ध हुए, राम-रावण-युद्ध हुआ, कौरव-पाण्डवों का महाभारत युद्ध हुआ। भगवान राम, कृष्ण और बुद्धावतार हुए। और इतिहास बताता है कि भारतवर्ष पर यवनों ने आक्रमण किया। फिर मुसलमानों का राज्य आया। वह भी खत्म हुआ। फिर अंग्रेजों ने आकर दो सौ साल तक राज्य किया। पश्चिम में विज्ञान की तरक्की हुई। आज विज्ञान का युग है। यह सारे परिवर्तन जो हुए, यह सब इसी शब्द और प्रकाश की धारा के कारण हुए। विज्ञान का सम्पूर्ण विकास यह धारा ही तो है। हम सभी जीवात्मायें भी अपने आधार से निकल कर इसी धारा में बह रहे हैं। और हमारे ध्यान से इस धारा में उन्नति होती जा रही है। भौतिक उन्नति हो रही है। इस भौतिक धारा में जीव जब तक बह रहा है, तब तक उसे चैन और शांति नहीं है। क्योंकि जीव जहां से आया है उस आधार की तरफ उसका ध्यान नहीं है। आर धारा में परिवर्तन होता जा रहा है। धारा में बहते रहने के कारण जीव को तृप्ति या शांति कभी आ नहीं सकती। क्योंकि हम अपने आधार-उस प्रियतम प्यारे को भूल गए। शब्द को भूल गए, स्वामी को भूल गए। इसलिए हमें अपने उस प्रियतम प्यारे से मिलने की तड़प-तपन करारी-होती है। और उस प्रीयतम

प्यारे को मिलने का एक ही रास्ता है। वह है प्रेम। प्रेम तत्व है। प्रेम की पराकाष्ठा और उच्चतम अवस्था का नाम ही शब्द-योग है। शब्द तो सब से ऊपर है। और उसी शब्द से प्रकाश की धारा निकल कर नीचे की और बही जा रही है। और जब तक हम अपने आधार-शब्द-से नहीं मिलते, तब तक हमें चैन और शांति नहीं मिलती। हम तड़प इसीलिये रहे हैं कि हम अपने उस शब्द रूप प्रियतम स्वामी से बिछुड़े हुए हैं। इसलिए यह प्रेम का मार्ग धारा का नहीं बल्कि राधा का है। यह उलटा मार्ग है।

'उलटा नाम जपत जग जाना।
वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना॥' --तुलसीदास

तो इस रचना की धारा में रहते हुए भी, उसमें न बह कर, अपने सुरत या ध्यान को उस शब्द रूप प्रियतम से जोड़ देने का नाम ही राधास्वामी योग या शब्द योग है।

शब्द का तो कोई रूप-रंग-रेखा नहीं है। लेकिन जब वह प्रगट हुआ तो उसका ही नाम राधास्वामी है।

'शब्द गुप्त तब रहा अनाम।
शब्द प्रगट तब धरिया नाम॥'

और जब तक राधा और स्वामी मिलेंगे नहीं तब तक चैन नहीं आएगा। यह मार्ग प्रेम का मार्ग है। निरस-शुष्क साधना तप का मार्ग नहीं है। कानों में उंगली देकर प्रकाश और शब्द को देखना-सुनना मात्र ही राधास्वामी योग नहीं है। साधना भी आन्तरिक प्रेम है। वह तब तक सुलभ नहीं हो सकता जब तक बाहरी प्रेम पूरा नहीं होता।

'हक़ीक़ी इश्क की इश्के मिज़ाजी पहली मंजिल है।
चलो ऐ ज़ाहिदो सूए खुदा कूए बुताँ हो कर॥'

इस जगत् में परमेश्वर का जीता-जागता स्वरूप गुरु हैं जो अवतार लेकर जीव को चेताने के निमित्त आए हुए हैं।

'बन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर॥'
--तुलसीदास

इसलिए पहले बाहरी गुरु से प्रेम करो जो परमेश्वर का साक्षात् स्वरूप है। तब तुम्हें चैन और शांति मिलेगी। यह मार्ग प्रेम, प्रीत और प्रतीति का मार्ग है। कोई जादूगरी नहीं है कि कानों में उंगली देकर शब्द की धुन में मस्त हो गए। अगर शब्द से भी हमारा लगाव हो गया तो वह भी आसक्ति हो गई। वह भी मंजिल-ए-मक़सूद नहीं है, बल्कि रुकावट है। क्योंकि मिलना तो हमें परम-पुरुष से है जो हमारा प्रियतम प्यारा है।

'तत्व अतत्व असार सार नहिं,
सुरत शब्द नहिं होई।
संत कहें तुम शब्द रूप हो,
और अशब्द गति सोई॥'

हम पांच महातत्व नहीं हैं, और ना ही सूक्ष्म अतत्व हैं। पाँच महातत्व तो हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनके पीछे पाँच अतत्व हैं ---गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। पृथ्वी में गंध मौजूद है, जल में रस है, अग्नि (प्रकाश) में रूप है, वायु में स्पर्श का अनुभव होता है, और आकाश में शब्द है। यह पांच सूक्ष्म अतत्व हैं जिन्हें

तन्मात्र कहते हैं। 'तत्व अतत्व असार सार नहिं।'

यह जगत् असार है। असार का यह अर्थ नहीं कि वह कुछ है ही नहीं। क्योंकि असार में सार छिपा हुआ है। शरीर, मन और आत्मा के अन्दर, सुरत छिपी हुई है। शरीर, मन और आत्मा के असार होते हुए भी सुरत, जो सार तत्व है, उनमें छिपा हुआ है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के पीछे परम तत्वाधार छिपा हुआ है।

'तत्व, अतत्व असार-सार नहिं,
सुरत शब्द नहिं होई।'

सुरत शब्द से अलग हुई थी अर्थात् राधा स्वामी से अलग हुई थी। इन दोनों से भी परे की अवस्था है---इन दोनों का मिल जाना।

'गुप्त रूप जहाँ धारिया, राधास्वामी नाम।
बिना मेहर नहिं पावई, जहां कोई विश्राम॥'

जब सुरत नाम में समा गई तो विश्राम की अवस्था आ गई। विश्राम वह अवस्था है जहाँ सुरत और शब्द दोनों अनाम में समा गये। फिर राधा राधा न रही, और स्वामी स्वामी न रहा। दोनों मिल कर अपनी असली हालत-निज अवस्था ---राधास्वामी अवस्था में समा गए। लेकिन वह अवस्था कब मिलेगी? 'बिना मेहर नहिं पावई, जहां कोई विश्राम।' तुम लाख समाधि-ध्यान लगाओ, लेकिन जब तक गुरु की कृपा तुम पर नहीं होगी, तुम विश्राम की निज अवस्था में नहा पहुच सकते। गुरु की दया अनिवार्य है।

गुरु की दया कब होगी ? जब तुम गुरु से सच्चा प्रेम करोगे। तुम्हारा प्रेम सवाल है, और गुरु की दया उसका जवाब है। प्रेम है सवाल और दया है जवाब। इसलिए यह प्रेम का रास्ता है। तो प्रेम हम किससे करें ? 'नहीं रूप कोई, सभी रूप तेरे।' प्रेम तुम उससे तब कर सकोगे जब वह तुम्हारे ही जैसा बन कर आएगा। लोग विष्णु आदि देवता से प्रेम व भक्ति की बात करते हैं। लेकिन विष्णु तो हमारे या आप जैसा नहीं है। उसके तो चार भुजायें हैं। आप स्थूल देहधारी हो, विष्णु सूक्ष्म दिव्य रूपधारी हैं। ऐसी अवस्था में प्रेम सम्भव नहीं है। इसी लिए जीव जब आरम्भ में मछलियों के रूप में थे, तब परमेश्वर मत्स्य अवतार के रूप में आए। और मछलियों ने उनसे प्यार किया। मनुष्य तो मत्स्य रूप से प्यार नहीं कर सकता। प्यार उसी से होता है जो अपने जैसा हो, हमजिन्स हो। इसलिए हमारा सच्चा प्रेम ब्रह्मा, विष्णु, महेश या किसी भी देवता से सम्भव नहीं है। प्रेम हम उसी से कर सकते हैं जो हमारे जैसा मनुष्य के चोले में आया हुआ हो। सत्गुरु हमारे जैसा मनुष्य के चोले में हमें जगाने-चिताने के लिए आता है। और सत्गुरु से हमारा सच्चा प्यार सम्भव है। देवताओं ने प्यार हम कर ही नहीं सकते। तुम देखो कि पति-पत्नी जीवन में प्रेम से रहते हैं। लेकिन वही पति या पत्नी मर जाने के बाद यदि घर में आ जाए तो उसे भूत या चुड़ैल समझ कर भय खाते हैं। उसे भगाने के उपाय किए जाते हैं। गैरहमजिन्स से प्यार हो ही नहीं सकता। तुम लाख कोशिश कर लो, प्रेम नहीं हो सकता। तो यदि परमपुरुष से प्यार करना है तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओं के रूप में नहीं किया जा सकता, बल्कि जब वह साक्षात् मनुष्य रूप में अवतार लेकर सत्गुरु

रूप में आते हैं, तभी उनसे आप सच्चा प्रेम कर के निज धाम पहुंच सकते हैं।

'बन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर॥'

---तुलसीदास

इसका मतलब यह है कि जब परमपुरुष परमेश्वर मनुष्य के चोले में सत्गुरु रूप में अवतार ले कर आता है तभी हम उसकी सच्ची भक्ति और वन्दना कर सकते हैं क्योंकि सत्गुरु रूप मैं वह कृपा का सागर हो कर उमड़ आता है। अनामी धाम या निज धाम में बैठा हुआ मालिक हमारे लिए किसी काम का नहीं। दया के सागर सत्गुरु के वचन रूपी किरणों से मनुष्य का महामोह रूपी घना अन्धेरा वैसे ही मिट जाता है जैसे सूर्य की किरणों से अन्धकार की घनघोर बदली छँट जाती है और प्रकाश हो जाता है।

सन्त मत, राधास्वामी मत, या मानवता धर्म प्रेम, प्रीत और प्रतीत का रास्ता है। इसकी पराकाष्ठा सत्गुरु के प्रति प्रेम के रूप में है।

'बन्दौं गुरु पद पद्म परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥'

---तुलसीदास

मालिक जब साक्षात् सत्गुरु रूप में मनुष्य के चोले में हमारे ही जैसा बन कर आएगा तभी तो उससे प्यार किया जायेगा। पूर्ण प्रेम कब होता है? जब गंध, रस, रूप,

स्पर्श और शब्द, इन पांचों सूक्ष्म अतत्वों के जरिये हम सत्गुरु से प्रेम करते हैं। सत्गुरु के द्वारा स्पर्श किए गए फूलों और उन्हें पहनाए गए मालाओं को जब हम सूंघते हैं, उनके हाथों से दिए गए प्रसाद जब चखते हैं, उनके मस्तक और आंखों को एकटक हो कर निरखते हैं, उनके चरणों को जब हम हाथों से स्पर्श करते हैं और उनके वचनों को सुनते हैं,तब यह हमारी बाहरी भक्ति और प्रेम पूर्ण रूप से होता है। ऐसी भक्ति और प्रेम तुम्हें उस हालत, उस अवस्था में ले जाती है जिसे सहज समाधि की अवस्था कहते हैं, जहां न कानों में उंगली देने की जरूरत है, न आंखों को मूंदने की जरूरत है, न जबान से जपने की ज़रूरत है।

'सन्तो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप भयो जा दिन सों,
सुरत न अनत चली ॥'

गुरु के प्रेम को पराकाष्ठा का होना ही गुरु-प्रताप है। तुमने गुरु को एकटक देखा, गुरु ने तुम पर दयादृष्टि डाली। दोनों का प्रेम उमड़ कर असीम हो गया। गुरु गुरु नहीं रहा, चेला चेला नहीं रहा। द्वैत का भाव मिट गया। अद्वैत से भी परे की अवस्था आ गई।

'आंख न मूंदूं कान न रूंधूं,
काया कष्ट न धारूं।
खुले नयन मैं हंस-हंस देखूं,
सुन्दर रूप निहारूं ॥'

सत्गुरु हमें इस सहज समाधि की अवस्था पर पहुंचा देता है। हां, यह बात जरूर है कि सत्संगी को सत्गुरु के

सत्संग में आना, इस प्रेम के मार्ग में पहला कदम है। यह बाहरी प्रेम है। सत्गुरु के सत्संग में आने से तुम्हें यह बात सहज ही समझ में आ जाएगी :

नहिं तुम दो न तीन चार हो,
सुरत शब्द नहिं होई ।
सन्त कहें तुम शब्द रूप हो,
और अशब्द गति सोई ॥'

तो जब परा आध्यात्मिक सार भेद को समझना इतना कठिन है, तो हमें क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं :

'ऊंची दृष्टि करे जो प्राणी,
सार भेद कुछ पावें ।
भेद पाय शरणागत आवे,
आवागमन मिटावे ॥'

सत्गुरु अपने सत्संग के वचनों द्वारा हमारी दृष्टि को ऊंचा कर देता है। और जब हमारी दृष्टि सत्गुरु की दया से ऊंची हो जाती है, तब हमें दिखाई देने लगता है कि उस अवस्था के सामने यह दुनिया तो कुछ भी नहीं। परम अवस्था तो बिल्कुल न्यारी ही गति और अवस्था है। और जब हमें यह पता लग जाता है कि हम अपने बल-पौरुष के द्वारा तो उस अवस्था को पहुंच ही नहीं सकते, तब हम अपना बल त्याग कर सत्गुरु की शरण में आ जाते हैं। अपना बल हार जाते हैं। तब गुरु का बल हमें उस परम अवस्था पर ले जाता है। और जब हम उस अवस्था पर सत्गुरु की दया से पहुंच जाते हैं तो आवागमन, जन्म-मरण के चक्र से सदा-सर्वदा के लिए निकल जाते हैं, और परम

शांति, परमानन्द की अविनाशी अवस्था में विश्राम को प्राप्त करते हैं।

इसलिए साक्षात् सत्गुरु रूप की भक्ति अत्यन्त आवश्यक है। कबीर साहिब कहते हैं कि दिन में बारम्बार सत्गुरु के दर्शन करे। यदि बारम्बार नहीं तो दिन में एक बार दर्शन करे। अगर रोज नहीं तो एक दिन का अन्तर दे कर दर्शन करे। नहीं तो तीसरे दिन करे। यह न हो तो हफ्ते में एक बार दर्शन करे। नहीं पखवाड़े में एक बार दर्शन करे। नहीं तो महीने में एक बार दर्शन करे। यह भी न हो तो छठे छमाहे दर्शन करे। और यदि यह भी न हो तो कम से कम साल में एक बार तो अवश्य ही सत्गुरु का दर्शन-सत्संग करना चाहिए। फिर भी गुरु की दया से प्रेरणा मिलेगी और आप भक्ति के मार्ग में उन्नति करते चले जाओगे। और इस भक्ति में आपको आन्तरिक प्रेम की पुष्टि के लिए सत्गुरु "नाम दान" प्रदान करते हैं। और आन्तरिक प्रेम के लिए आप उसी सत्गुरु के नाम का सुमिरन, उसी के रूप का ध्यान और उसी की वाणी का भजन करें जिसने आप को सत्संग करा कर नामदान प्रदान किया। इसी नाम का साधन अन्तर में करते-करते आपका बाहर का प्रेम आन्तरिक प्रेम में बदल जाएगा। आप की रहनी बदल जाएगी, आप स्वयं शब्दमय हो जाओगे और ऊंची से ऊंची अवस्था को प्राप्त कर लोगे। शब्द व्यापक है। राधास्वामी मत शब्द का मार्ग है। शब्द स्वयं प्रेम है। प्रेम किसी की निन्दा नहीं करता, चाहे उसका कोई भी धर्म क्यों न हो। यह है प्रेम का मार्ग। भले ही शुरू में आप का प्रेम शारीरिक प्रेम ही क्यों न हो, जब तुम गुरु के सत्संग में आओगे तो यही प्रेम बदलते- 2 आत्मिक प्रेम में बदल

जाएगा। यह है सार।

'एक जन्म गुरु भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति पद, चौथे में निज धाम ॥'

यहां जन्म का मतलब है कुछ समय के लिए। कुछ समय तक गुरु की स्थूल भक्ति करे, शारीरिक सेवा करे। क्यों? गुरु के नज़दीक आने का अवसर मिलता है। गुरु की कुरबत मिलती है। गुरु की रेडिएशन से शिष्य का ध्यान बनता है। तब उसको नामतत्त्व की प्राप्ति होती है और कुछ समय तक वह नाम की भक्ति करता है। नाम जपते-जपते वह अपनी "मैं"(अहंकार) को भूल जाता है और हर तरफ उसे गुरु ही गुरु दिखाई देने लगता है। उसकी "मैं" नहीं रहती, सिर्फ "तू" ही रह जाता है। यही जीवन मुक्त अवस्था है :

'तू-तू करता तू भया, मुझमें रही न हूं।
वलिहारी गुरु नाम की, जित देखूं तित तू ॥'

आगे चलते-चलते, चोला छोड़ने से पहले, उसकी यह हालत आ जाती है जिसे निज धाम कहते हैं, जहां "मैं" नहीं रहती, और "तू" भी नहीं रहता।

'झुका के सिर राधास्वामी पद में,
विचार तक दासपन का खो दूं।
पिला दे भक्ति का ऐसा प्याला,
ममत्व मैं अपने मन का खो दूं ॥
न सुध रहे आर न बुध रहे कुछ,
अहम्पना सारा मन का खो दूं ॥'

यह है राधास्वामी मत। यह है सार। किसी प्रकार की भक्ति करो, अगर बाहरी भक्ति करते हो तो वह आन्तरिक भक्ति में बदल जाएगी। लेकिन यह समझ लेना कि केवल कानों में उंगलियां दे कर समाधि-ध्यान लगाने से प्रकाश और शब्द खुल जाएगा, या कोई जादूगरी हो जाएगी, यह गलतफहमी है। सन्त मत केवल प्रेम का मार्ग है, प्रेम ही इसका आधार है और प्रेम ही इसकी मंजिल है। और यही मानवता धर्म है। आज के लिए इतना सत्संग काफी है।

सब को राधास्वामी।

हमें भी दे तार लाखों तारे

मासिक सन्देश

सत्संग परमसन्त सद्गुरु

हजूर मानव दयाल

डा. आई. सी. शर्मा जी महाराज

मानवता मन्दिर, होशियारपुर।

दिनांक 16.5.82

मेरी अपनी ही आत्मा के अंश,

परमप्रिय सत्संगियो :

राधास्वामी, परमदयाल जी सहाई!

जेठ महीना जेठा भारी,
जीवन हिरदे तपन करारी।
संत दयाल जोव हितकारी,
भेद कहें अब निज कर भारी।
नहिं ख़लिक़ मखलूक़ न ख़िल्क़त,
कर्ता कारन काज न दिक्क़त।

द्रष्टा दृष्टि नहिं कुछ दरसत,
वाच लक्ष नहिं पद न पदारथ।
ज़ात सिफ़ात न अव्वल आख़िर,
गुप्त न परघट बातिन ज़ाहिर।
राम रहीम करीम न केशो,
कुछ नहिं कुछ नहिं कुछ नहिं था सो।
सिमृत शास्त्र न गोता भागवत,
कथा पुरान न वक्ता कीरत।
सेवक सेव न दास न स्वामी,
नहिं सतनाम न नाम अनामी।
कहां लग कहूं नहीं था कोई,
चार लोक रचना नहिं होई।
जो कुछ था सो अब कह भाखूं,
उनमुन सुन, विसमाधी राखूं।

हमें भी दे तार लाखों तारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी।
लगादे भव जल के अब किनारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी॥
न हो किसी से हमारा नाता,
न हम किसी का सहारा ढूंढें।
रहें सदा तेरे ही सहारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी॥
न मोह माया का मन में खटका,
न काल और कर्म का हो झटका।
निवास कर मन में अब हमारे,

दयाल दाता कृपाल स्वामी ॥
दे प्रेम भक्ति का दान हमको,
न दे तू सन्मान मान हमको।
यही है विनती हमारी निसदिन,
दयाल दाता कृपाल स्वामी ॥
दे खोल दृष्टि तुझे पिछानें,
दरस परस करके तुझको मानें।
उदय हों घट सूर चन्द्र तारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी ॥
अलख अगम का दिखा तमाशा,
दिलादे निज धाम में तू बासा।
चरन कमल के रहें सहारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी ॥
जपूं सदा मन से राधास्वामी,
कहूं सदा मुख से राधास्वामी।
दिला दिला नाम धन दुलारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी ॥

इस वाणी को जेठ महीने की महिमा से आरम्भ किया या है और फिर परमतत्त्व की व्याख्या की गई है। सबसे पहले मैं आपको जेठ महीने की शुभ कामनाएं देता हूं फिर वन्दना करके सत्संग शुरू करूंगा।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

मस्तरामसुतं देवं फकीरचन्दपण्डितम् ।
परमं सन्तं दयालं व तस्मै वन्दे जगद्गुरुम् ॥

गुरु सृजन शक्ति अर्थात् ब्रह्मा का स्वरूप हैं। गुरु पालन करने वाली शक्ति विष्णु का स्वरूप हैं, गुरु अज्ञान को नाश करने वाली शक्ति शिव का स्वरूप भी हैं तथा गुरु इन तीनों से परे उस परब्रह्म तत्त्व का स्वरूप साक्षात् शरीर में हैं। इसलिए मैंने यह नमस्कार का श्लोक पढ़ा। मस्तरामसुतं देवं अर्थात् मस्तराम जी के घर में शरीर रूप से उत्पन्न हुए पण्डित फकीरचन्द जी महाराज जो परमसन्त हैं परमदयाल हैं और जगत् के गुरु हैं उनको नमस्कार है।

जब किसी बालक को शिक्षा देते हैं तो अक्षर सिखाते हैं। अक्षर क्या होता है? जिसका क्षय नहीं होता, अक्षर ब्रह्म भी है। अक्षर सिखाते हैं तो कैसे सिखाते हैं? अक्षर देखा नहीं जाता। अक्षर 'अ' भी होता है तो 'अ' से अनार, 'क' से कबूतर सिखाते हैं तब जाकर उसको ज्ञान होना है। इसलिए जब मैं महाराज जी के प्रति नमस्कार करता हूं और कहता हूं मस्तरामसुतं देवं (उनको साक्षात् भी आपने देखा है) तो यह नमस्कार करते समय मस्तराम जी के पुत्र शरीर रूप में कहने का मतलब यह नहीं कि वह यहां तक ही सीमित हैं, यह उनका सगुण रूप है इस लिए यह नमस्कार जो है सन्तमत के अनुसार है। और फिर देखिये यथा नाम तथा गुण, उनके पिता का नाम मस्तराम अर्थात् मालिक की मस्ती में रहने वाले और फिर उनका अपना नाम फ़कीरचन्द, नाम भी गुण के समान है

और फकीर का मतलब होता है परमतत्त्व। देवं इस लिए कहा गया है कि उनमें दैवी गुण हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं, दैवी और आसुरी। मनुष्य में दैवी और आसुरी दो प्रवृत्तियाँ होती हैं। दैवी प्रवृत्ति वह प्रवृत्ति होती है जिसको सन्तों के गुण कहते हैं। सन्तों के क्या गुण होते हैं सबसे प्रेम करना, सब पर दया करना, सब लोगों की भलाई करना यह दैवी सम्पत्ति कहलाती है और आसुरी सम्पत्ति होती है सबको दुःख देना, सब से नफ़रत करना और सबका नुक्सान करना। देव क्यों कहा ? क्या महाराज जी में आसुरी गुण थे ? नहीं ! उनके गुण भी दैवी थे इसलिए मस्तराममुतं देव कहा है। मैं आज मस्तराममुतं देव की व्याख्या कर रहा हूं क्योंकि नारायणदास जो ने एक दिन ऐसा करने को कहा था ताकि लोगों को भ्रान्ति न हो।

फकीरचन्दपण्डितम्- फ़कीरचन्द उनका नाम है पण्डित कौन होता है ? जो परम ज्ञानी होता है उसको पण्डित कहते हैं। तो क्या उन में पण्डिताई की कमी थी ? यह नहीं कि ब्राह्मण के घर पैदा हुए इस लिए हम उन्हें पण्डित कहते हैं, पण्डित का अर्थ वह मनुष्य है जिसको पूरा ज्ञान हो चुका है और डाक्टर की उपाधि जो मेरे साथ लगाई गई है यह यूनिवर्सिटी से मिली है, डाक्टर का अर्थ भी पण्डित होता है। परमं सन्तं---सन्तों में परम, सबसे ऊंचे परमतत्त्व वाले सन्त। बाकी सन्त तो बहुत हैं लेकिन वे परमसन्त नहीं हैं। दयालं---जो परमदयाल हैं तथा जगत् के गुरु हैं। जगत् के गुरु शरीर रूप में भी थे और इस

समय अपने स्थान पर जाकर अपने उच्चतम सिंहासन पर मूलतत्त्व में मिलकर इस समय भी वह हैं इस लिए मैंने नमस्कार किया है। उनको दया अब भी है। तस्मै वन्दे जगद्गुरुम्---इस जगत् के गुरु हैं क्योंकि दाता दयाल जी ने भी उनके सब गुण व लक्षण बताकर यह कहा था कि वह इस संसार में रहते हुए भी इस संसार से परे थे और ऐसे स्थान पर पहुंच चुके थे जो आज जेठ के महीने में कहा गया है कि यहां न ख़ालिक़ हैं, न ख़लक़त है, न वहां पर कर्त्ता है, न प्रकृति है, न सृष्टि है, न सृष्टा है ऐसे तत्त्व में पहुंच कर जब इस शरीर में रह रहे थे तो उन्होंने कहा था कि उनका इस शरीर में रहना केवल कर्मभोग के लिए है और यह कहा था :--

आबिदो माबूदियत माबूद से आज़ाद है।
खुश मुजिस्सिम खुश है दिल का रूह का वह शाद है॥

इसका अर्थ है कि वह पूजा व मालिक की भक्ति के दर्जे से भी ऊपर उठ गए थे। उनको न किसी की पूजा करने की आवश्यकता थी और न उनको किसी पूजा करने वाले आदर्श की आवश्यकता थी, इस क़ैद व सीमा से वह ऊपर उठ गए थे। तो दाता दयाल ने उनको कहा :---

आविदो माबूदियत माबूद से आज़ाद है।
खुश मुजिस्सिम, खुश है दिल का रूह का वह शाद है॥

इस लिए उनके सगुण रूप को नमस्कार करना हो चाहिए क्योंकि दाता दयाल ने कहा था :--

तेरा सगुण रूप है सन्तमते का सार।

अर्थात् सन्तमत का जो असली मतलब समझना चाहता है वह उनके सगुण रूप से समझे। उनका शरीर आपने देखा, कितना हल्का-फुल्का था, कितना सुन्दर शरीर था और शरीर भी खुशी का ही रूप था। नारायणदास जी जब उस शरीर की मालिश करते थे तो कितना उनको आनन्द आता होगा। मैं ठीक कहता हूं कि इनके हाथों के अन्तर उस मालिक की किरणें हैं। वह दिल से भी हमेशा खुश रहते थे और उनकी आत्मा में निरन्तर आनन्द रहता था। इस लिए दाता दयाल ने उनके बारे में यह कहा :---

जिस को देखो इस तरह समझो वही सच्चा फ़कीर।
दस्तगीरे दो जहाँ और दो जहां का है वह पीर॥

दाता दयाल ने इनके लिए कहा है कि जिसमें ऐसे लक्षण देखो वह सच्चा फ़कीर है जो इस लोक का और वहां का अर्थात् दोनों जहानों का नेता व मालिक है। इस लिए इसी भाव को सामने रख के मैंने यह वन्दना की है।

जेठ महीने की वाणी आपने सुनी। असली शब्द ज्येष्ठ है। ज्येष्ठ कहते हैं बड़े को। इस महीने में दिन भी बड़े होते हैं तथा महीना भी बड़ा माना जाता है। ज्येष्ठ को संस्कृत में गुरु भी कहा जाता है। गुरु का अर्थ भी बड़ा होता है। तो यह गुरु की महिमा है। वाणी में कहा गया है कि जीवन हृदय न करारी, यह तपन भी जेठ के महीने में ही होती है। तपन से भावार्थ है कि हमारे दिल में लगातार लगन व कसक हो कि हम उस मालिक, परमतत्त्व

या परम आधार को मिलें जहां से कि हम आये हैं। जब तक लगन नहीं होती तब तक मनुष्य बहिर्मुख से अन्तर्मुख नहीं होता। दुःख क्यों है? दुःख इस लिए है कि अधिकतर लोग बहिर्मुख हैं तथा वे अपने आपको शरीर मानते हैं। शरीर बाहरी वस्तु है तथा जब तक शरीर है शरीर में दुःख भी रहेगा, सुख भी रहेगा।

परमाधार, जहां से हम आए हैं वहाँ पर पहुंचने पर ही यह अनुभव होगा कि वहां पर किसी प्रकार का दुःख नहीं है, सुख नहीं है। जहां सुख है वहां दुःख है, कभी सुख होगा फिर दुःख होगा। परमतत्त्व में न सुख है न दुःख है, सांच नहीं है झूठ नहीं है। वह परमतत्त्व साफ सामने दिखाई नहीं देता क्योंकि वह अन्तस् में छुपा हुआ है, वह ब्रह्माण्ड के भी अन्तर है और कई ब्रह्माण्डों से परे सतलोक से भी परे है। वह जो अन्दर है उसको आप नहीं देख सकते जब तक कि आप अन्तर्मुख न हो जाओ। इसीलिए समिरन, ध्यान बताया जाता है। बहिर्मुख होने के लिए पहले गुरुमुख होना ज़रूरी है। आप एक दम अन्तर नहीं जा सकते क्योंकि बचपन से जिस घर में आप पैदा हुए उससे आप के मन व दिमाग के ऊपर देवी के, देवताओं के, भैरों जी के वह सब बाहरी प्रभाव पड़े हुए हैं, आपका तो बहिर्मुखी मन है। परमदयाल जी महाराज कहा करते थे कि Suggestions & Impressions दिमाग में भरे पड़े हुए हैं और सांसारिक आशाएं मन में हैं। क्या आप देखते नहीं, लोग तो सांसारिक

इच्छाओं व आशाओं को पूरा करने के लिए कैसे अपने-अपने देवताओं की मिन्नतें मानते व चढ़ावे चढ़ाते हैं। मांगो। आपका मांगने का अधिकार है क्योंकि आप मालिक के पुत्र हैं। पुत्र तथा पुत्रियों का मालिक से मांगने का अधिकार है। मांगो, मांगना पाप नहीं है परन्तु उसके बाद समझो कि यह मांग कैसे पूरी हुई तथा किसने पूरी की ? जब मैं बहिर्मुख था मैं भी मांगा करता था और हमेशा इच्छा पूरी हो जाती थी, जैसे परीक्षा में फर्स्ट आ जाऊं 5 पैसे का प्रसाद चढ़ाऊँगा। मैं ब्राह्मण वंश में मुलतान में पैदा हुआ। नहाने के कमरे के ऊपर अलग पूजा का कमरा था। जहां 200 वर्ष पुरानी शंकर भगवान् की मूर्ति थी। वहां बैठकर जैसे Suggestions & Impressions सब के होते हैं, अन्तर्मुख सुमिरन, ध्यान, भजन भी किया करता था। मुलतान में चौक बाज़ार में हनुमान जी का एक मन्दिर था जहां बहुत लोग जाते थे। जब भी मैं उधर से गुज़रता था तो हनुमान जी को नमस्कार करता था तथा जो चाहता था वह मिल जाता था। मुझे उस समय, बारह-तेरह वर्ष की आयु में भी यह ज्ञान था व सोचता था कि यह मांग पूरी क्यों होती है ? मेरा यह विचार था कि क्योंकि मालिक अपने अन्तर है। अपने आप पर लोगों का विश्वास नहीं होता, समझते हैं कि मैं तो एक मनुष्य पैदा हुआ हूं और नहीं जानता कि मनुष्य तू अपने आप में पूर्ण है, इस लिए उसको कोई बाहर का सहारा ढूंढना पड़ता है। Suggestions and Impressions सब के होते हैं। जब मैं चौथी कक्षा में पढ़ता था तो वज़ीफ़े का इम्तिहान देना था, मैंने सोचा कि हनुमान जी ! मैं पांच

पैसे का (बाद में तो पाँच रुपये का और 500/-रु. का भी माना कभी) प्रसाद चढ़ाऊंगा, मुझे वजीफा मिल जाये, वजीफा मिल गया तो उसमें क्या होता था ? यह विश्वास होता था कि हनुमान जी यह काम करायेंगे, मेरा अपना जो विश्वास था वह उस मूर्ति से टकरा कर फिर मेरे में आ गया और मुझे विश्वास हो गया, मैं वजीफे की परीक्षा देने गया, अपने विश्वास के कारण मिल गया परन्तु वह विश्वास उधर से टकराकर फिर इधर वापिस आया, बहिर्मुखी से फिर मैं अन्तर्मुखी भी हो गया ।

सनातन धर्म और सन्तमत की शिक्षा एक ही है। गायत्री मन्त्र का अर्थ भी अपने अन्तर ज्योति को देखना है। यह दोनों ही अन्तर्मुख होने व अन्तर जाने की शिक्षा देते हैं क्योंकि जो कुछ मिलता है अपने अन्तर से ही मिलता है, चाहे आप अपनी इच्छा की भी पूर्ति करना चाहते हैं तब भी आप अन्तर्मुख हो कर अपने मस्तक में मालिक की तस्वीर बनाकर ध्यान लगाइए, आपको मिलेगा। परन्तु क्योंकि बहिर्मुख होने की आदत पड़ी हुई है इसलिए बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने में कठिनाई होती है। इसीलिए सच्चा गुरु नाम तभी देता है जब वह देख लता है कि यह शीघ्र अन्तर्मुखी हो सकता है अन्यथा स्वभाव के अनुसार कर्मयोग या भक्तियोग का रास्ता बताता है। कर्मयोग का मार्ग उसे बताया जाता है जिसमें काम करने या सेवा करने की बहुत शक्ति है जैसे महाराज जी ने नारायणदास जी को कहा कि

आ तू मेरी सेवा कर दे । उसी सेवा से मुझे पूर्ण विश्वास है कि नारायणदास जी ने भले ही बहुत लम्बा अभ्यास न किया हो परन्तु इन्होंने मालिक की जो सेवा की है इनको ज्ञान हो गया और उससे यह तर जायेंगे ।

जब तक जीवन है कर्म के बिना कोई रह ही नहीं सकता। कोई कहे कि मैं तो सत्तगुरु हो गया और मैं कर्म से ऊपर उठ गया, यह कैसे सम्भव हो सकता है। शरीर तुम्हारा कर्म कर रहा है, खाना खाते हो, भोजन का पाचन हो रहा है और आपके अन्तर खून का दौरा हो रहा है। कर्म तो प्रत्येक व्यक्ति से स्वाभाविक हो हो रहा है। कर्म तो तभी समाप्त करोगे जब मर जाओगे । सन्तमत में गेरुए कपड़े पहनने की आवश्यकता नहीं, यह कभी भी संसार से भागने व कुटिया बनाकर बैठ जाने को नहीं कहता, वो भागने व डरने वाला मार्ग ही ग़लत है सन्तमत मे गुरु आपको अभयदान देता है और संसार में रहते हुए केवल अन्तर्मुख होने को कहता है और आपको आपके वहम, भ्रमों व अज्ञान से आज़ाद कर देता है गुरु ।

मैं पचास वर्ष से ज्यादा समय से अन्तर्मुख होता रहा हूं परन्तु मालिकेकुल परमदयाल जी के दर्शन करने के बाद बहुत ही ज्यादा अन्तर्मुखी हो गया हूं। मैं चाहूं तो मालिक की दया है, लाख दो लाख लगा कर गंगा के किनारे कुटिया बनाकर बैठ जाऊं और वहीं अन्तर्मुख होता रहूं और अपनी साधना करता रहूं । मुझे यहां आकर यह काम करने

की क्या आवश्यकता है लेकिन यदि मैं ऐसा करूं तो मैं महामूर्ख हूंगा। महाराज जी सन् 1976 में अमेरिका में एक जगह सत्संग देने जा रहे थे। परसराम जी साथ थे। मैंने मार्ग में परसराम जी को कहा, परसराम जी! यह बड़ा भारी काम महाराज दे रहे हैं मैं यह न कर सकूंगा, महाराज जी को कह दो। कहने लगे कि आप कह दो। मैंने कहा आप कह दें। परसराम जी ने परमदयाल जी को कह दिया। सत्संग में कितने हज़ार अमेरिकन थे, सत्संग उनको देना था तो पहले ही महाराज जी ने यह कहना शुरू किया, आई. सी. शर्मा! मैं तुम्हें कह रहा हूं, तुम्हें यह काम अवश्य करना पड़ेगा, मेरी आज्ञा है। यदि मेरी आज्ञा का पालन नहीं करोगे तो मैं तुम्हें Curse करूंगा अर्थात् शाप दूंगा, ऐसे कहा। इसलिए उनकी आज्ञा का पालन करने व यह सत्संग देने का कर्म करने के लिए मैं विवश हूं। मुझ में यदि कोई अच्छाई दिखाई देती है तो उनकी है और यदि आपको कोई बुराई मिलती है तो मेरी है, मेरे मालिक को दोष नहीं दे देना।

बुद्ध धर्म भारत में क्यों नहीं टिका? क्योंकि बुद्ध धर्म में था 'धर्मं शरणं गच्छामि' मैं धर्म की शरण जाता हूं, 'बुद्धं शरणं गच्छामि' और 'संघं शरणं गच्छामि' अर्थात् मैं संन्यासी बनता हूं। जब सभी लोग संन्यासी, भिक्षु, भिक्षुणी, बनने लगे तो मालिक को ध्यान आया कि यह तो भारत का सत्यानाश हो जायेगा। इसलिए शंकराचार्य जी का अवतार हुआ ताकि बौद्ध धर्म को भारत से हटा दिया जाय और सबको मालिक की ओर लगाया जाय। बार-

बार मालिक स्वयं आता है। स्वयं अपनी शक्ति को शिक्षा बदल देने के लिए भेजता है। स्वामी जी महाराज व हजूर राय सालिग राम जी सच्चाई देने के लिए आए। इन्होंने किताबें लिखीं जो सूत्र रूप हैं और बहुत थोड़े में ही लिखी हैं, सबको समझ में नहीं आ सकतीं इस लिए मालिक ने दाता दयाल जी को भेजा, इन्होंने दुनिया भर के धर्मों पर और सुन्दर विचारों पर चार-पांच हज़ार किताबें लिख कर हमें दीं। क्योंकि कोई सभी किताबें तो पढ़ ही नहीं सकता था तो परमदयाल जी परमतत्त्व स्वयं शरीर में आए यह दिखाने के लिए कि राधास्वामी मत व सन्तमत यह हैं और उन्होंने यह बहुत सरल रूप से दिखाया। यह दिखाने के बाद वर्जीनिया (अमेरिका) में मुझे कहने लगे---"मैंने तुमको इसलिए चुना है कि मेरा अनुभव यह कहता है कि अनादि सनातनधर्म और राधास्वामी मत या सन्तमत में कोई अन्तर नहीं है, यह सत्यता का धर्म विश्व में फैलेगा व सब धर्मों को अपना मार्ग दिखायेगा और तू क्योंकि वेदों व सनातनधर्म का ज्ञाता और अभ्यासी है इन सबको एक करने का महान् काम तू करेगा और यह काम करते हुए निश्चय ही तू मेरी तरह इस अन्तिम अवस्था में गुम होगा जो यह जेठ महीने की वाणी कहती है, जहां न मैं है न तू है और जिसको कबीर साहिब ने कहा है :--

माला फेरूं न हरि भजूं मुख से कहूं न राम।
मेरा राम मुझको भजे तब पाऊं विश्राम ॥

भावार्थ यह है कि सन्तमत में बहिर्मुखी से पहले गुरुमुख होना पड़ता है। जब गुरु की ओर ध्यान होगा

तो गुरु की ओर देखते रहने से उसकी वृत्ति जम जाएगी तभी अन्तर्मुखी हो सकोगे। सन्तमत के ये दर्जे हैं जिन पर चलना होता है।

अब आप दाता दयाल जी महाराज के शब्द पर विचार कीजिये :--

हमें भी दे तार लाखों तारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी।

गुरु क्या है? दयाल दाता है। यहां पर शिष्य भी देता है तो गुरु भी देता है। गुरु यदि दे नहीं तो वह आगे परमधाम को नहीं पहुंच सकता। कोई कहे मैं सत्संग नहीं कराता, ज्ञान नहीं देता, वह गुरु नहीं है। उसको दयाल होना पड़ता है। गुरु के अन्तर से प्रेम तथा दया की किरणें स्वाभाविक ही निकलती रहती हैं इस लिए गुरु को दाता दयाल कहा गया है। सन्त को प्रेम का भण्डार क्यों कहा जाता है? क्योंकि सन्त का तो यह स्वभाव ही है वह दया व प्रेम तो करेगा ही। सन्त की कोई यह मेहरबानी नहीं है कि वह आपको देखकर दया कर रहा है। यदि वह सन्त है तो दया स्वयं ही निकसेगी जैसे सूर्य से प्रकाश व चमक आ रही है, सूर्य विवश है। इस लिए यहां गुरु को कहा गया है कि हे दाता दयाल! तूने लाखों तारे हैं तू मुझे भी तार। इस भावना से जो सत्संग में आता है वह तर जाता है यहां तक कि गुरु अधूरा भी हो तो भी शिष्य तर जायगा परन्तु यदि गुरु की कथनी व करनी में अन्तर नहीं है तो वह गुरु अधरा नहीं है :---

लगा दे भव जल के अब किनारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी।

भव क्या है? भव का अर्थ है होना। जब सुरत ऊपर से आती है तो पहले वह अपने आप को एक दिव्य प्रकाश में लपेट लेती है और उस दिव्य जगत् से नीचे उतर कर फिर उसमें एक आनन्द आता है, आनन्दमय कोश, विज्ञानमय कोश और फिर मनोमय कोश ऐसे बहुत से कोश हैं जिनमें वह लिपटी हुई नीचे आती है। जब नीचे शरीर में आ गई तो वह यह स झ लेती व मान लेती है कि मैं शरीर हूं या मैं मन ही हूं, यह भव है अर्थात् भव में आ गई क्योंकि वह अपने निजघर को भूल गई जो अज़र, अमर व अविनाशी है। उस भवसागर से पार करने के लिए गुरु से कहा गया है कि ऐसी दया करो व ऐसा ज्ञान दो कि मैं इन सीमाओं से छूट जाऊं। इसके लिए ही सत्संग में गुरु ज्ञान देता है :--

न हो किसी से हमारा नाता,
न हम किसी का सहारा ढूंढें।

वैसे तो जग में रहना है तो नाता-रिश्ता तो होगा व रहेगा ही, किसी के पुत्र-पुत्री, किसी के माता पिता, किसी के भाई इत्यादि होंगे परन्तु असल चीज़ परमतत्त्व सब में है। यदि आप सब में उसी परम-तत्त्व को समझ लें और उसी असली व पवित्र नाते व सम्बन्ध का ध्यान रहे तब ये नाते आपके लिए

बिलकुट रुकावट नहीं बनेंगे बल्कि यही आपका मालिक का सुमिरन व मालिक की सच्ची याद हो जायेगी और ये नाते न समझ कर उसी परमतत्व का ही नाता समझें तो बहुत आनन्द रहेगा :---

रहें सदा तेरे ही सहारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी।

इस तरह जब आपको उसी का सहारा होगा और आप उसी असली आधार के शरणागत हो जायेंगे व उसी मालिक में पूर्ण विश्वास रखेंगे तो आपके सब काम भली प्रकार होंगे। दाता दयाल इस शब्द में यही प्रार्थना करते हैं कि हे स्वामी, हे परमतत्व, सर्वाधार व हे परमगुरु! मैं चाहता हूं कि और किसी का सहारा न लेकर तेरा ही सहारा लूं क्योंकि असली सहारा वही हैं। वेदान्तियों की यह बड़ी भूल है जो यह कहते है कि यह दुनिया एक भ्रम, माया या स्वप्न है या वे 'अहं ब्रह्म अस्मि', कहते हैं। उनको समझना चाहिए कि आधार सब का वही परमतत्व है जिस पर कि सब कुछ रखा हुआ है :---

न मोह माया का मन में खटका,
न काल और कर्म का हो झटका।

जब हमारी तार परमाधार के साथ बंध गई तो यह मोहमाया सब अपने आप ही हट जायेगी। मोहमाया से हटने का अर्थ यह नहीं कि आपका प्यार

नहीं होगा, प्यार तो सुरत से निकलता है व आगे जाकर आत्मा का होता है। प्यार मन व बुद्धि से नहीं निकलता, जितना अधिक बुद्धि वाला होगा उतना वह कटु हृदय व कड़े व्यवहार वाला होगा, उसका प्यार नहीं होता। हां, जो स्वच्छ बुद्धि वाला अर्थात् प्रज्ञा वाला होता है उसका प्यार होता है और वही स्वच्छ प्यार सन्त व फ़कीर का होता है क्योंकि उसका मन मालिक के साथ लगे होने के कारण उसकी मोहमाया जा चुकी होती है। मोहमाया चले जाने का अर्थ क्या है? कि आप का लगाव नहीं होगा। महाराज जी कहा करते थे, करो प्यार परन्तु उसमें फंसो नहीं अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए प्यार नहीं करो। प्यार के बिना तो काम चल ही नहीं सकता परन्तु प्यार आपका स्वच्छ हो। प्यार क्या है? प्यार एक करने वाला है, घृणा अलग करने वाली है। आप अपने भोजन को ही देखिये। मान लो आप कहते हैं कि मुझे आलू-मटर प्यारे लगते हैं तथा भिण्डी अच्छी नहीं लगती, तो आप भिण्डी को नहीं खाओगे और आलू-मटर खाओगे। खाओगे क्यों? ताकि वो मेरे अन्तर एक हो जाए। इसलिए प्रेम में आग और एकत्व दोनों गुण रहते हैं। तो प्यार एक करता है, वह बिना कहे व बोले ही एकदम हो जाता है। प्यार आत्मा का है तथा सुरत से निकलता है। सुरत क्योंकि अनन्त है इसलिए प्यार एक जगह नहीं कर सकता जैसे मैं अपनी पत्नी से प्यार करूं और अमुक से नहीं करूं, वह तो बहता है। वह स्वच्छ और बड़ा निर्मल प्यार का जो पानी है वह ऊपर पहाड़ से गंगा की तरह बहता है। बहते हुए

एक बड़ी जगह पर ठहर जाता है, एक तालाब बना लेता है, फिर आगे जाता है और तालाब का निर्माण करता है। इस तरह अपना दायरा बढ़ाता ही जाता है। वह प्यार ही क्या हुआ जो एक ही जगह पर रुक जाए, वह मोह होता है। सन्त का प्यार ऐसा स्वच्छ प्यार होता है। लोग समझते नहीं हैं कि सन्त का प्यार क्या है और दूसरा आदमी कैसे प्यार करता है या सन्त के किसी चीज़ को हाथ लगाने का क्या प्रभाव होता है। एक फ़कीर था वह छोटे सुन्दर बच्चों को लेकर गोद में बिठा लेता था। लोग निन्दा करते थे कि यह क्या करता है। एक दिन जा रहे थे कि काला सांप था उसको उठा कर गोद में रख लिया, तब लोग समझे कि यह बात है। मैं आपको मोह और प्यार का अन्तर बता रहा हूं। वह जो स्वच्छ प्यार होता है वह मोह नहीं होता, मोह से छुटकारा पाओ परन्तु प्यार व प्रेम से नहीं :--

निवास कर मन में अब हमारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी ।

जब वह हमारे मन में निवास करेगा, निरन्तर सुमिरन ध्यान से उसी को हो भजते रहेंगे तो वह तो अनन्त है उससे जो हमारा काम होगा वह अनन्त प्रेम का होगा। मुझे अपने आप पर पूरा विश्वास है कि मेरे दिल में आप लोगों के लिए हमेशा अगाध प्रेम है व रहेगा।

दे प्रेम भक्ति का दान हमको, न दे तू सन्मान मान हमको।

दाता दयाल कहते हैं कि हमको प्रेम भक्ति का दान दो। मालिक ने मुझ पर बड़ी दया की है कि मुझे तो यह दान उसने भरपूर दिया है, मान सम्मान की कोई जरूरत नही, मुझे वह चाहिए नहीं। मान सम्मान मुझे बहुत मिल चुका, देश-विदेश में जिस यूनिवर्सिटी में भी जाओ मेरी किताबें पढ़ाई जा रही हैं। भक्ति रत्न के सामने मान सम्मान की तुलना ही क्या है। मैं पढ़ाना चाहता तो अमेरिका में अभी 9 वर्ष और पढ़ा सकता था जहाँ 9 महीने पढ़ाने का मुझे लगभग 5 लाख रू: मिलता है परन्तु जब आप सत्संगियों के रूप में मैंने मालिक का प्रेम इतना उमड़ता देखा तो मैंने उस पढ़ाने के काम को तिलांजलि दे दी तथा आप लोगों की सेवा के लिए उपस्थित हो गया। आप लोगों के प्यार की तो कोई कीमत ही नहीं :--

दे खोल दृष्टि तुझे पिछानें,
दरस परस करके तुझको माने।

जब वह दृष्टि खुल गई कि मालिक सब में है तो इस पवित्र दरस, परस से हमें यह ज्ञान होगा कि सब जगह मालिक है :--

उदय हों घट सर चन्द्र तारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी ।

यह बिलकुल सच है कि जो सूर्य, चन्द्र, तारे ब्रह्माण्ड में हैं वही हमारे अन्दर भी हैं। इस पर किसी और दिन सत्संग दूंगा। गुरु की दया दृष्टि हो जाएगी तो अनुभव और साधना से आप में वह सूर्य, चांद सब

अपने आप दिखाई देने लग जायेंगे :-

अलख अगम का दिखा तमाशा,
दिलादे निज धाम में तू बासा।

सूर्य चांद सितारे के बाद फिर सत्तलोक के दर्शन व सत्तपुरुष से परे अलख और अगम का तमाशा देखें। इससे आगे अपना निवास ठिकाना है जहां पहुंचाने के लिए प्रार्थना की गई है :-

चरण कमल के रहे सहारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी।

गुरु के चरण कमल प्रकाश, अनुभव और विवेक हैं।

जपूं सदा मन से राधास्वामी,
कहूं सदा मुख से राधास्वामी।
दिला दिला नाम धन दुलारे,
दयाल दाता कृपाल स्वामी ॥

दाता दयाल गुरु से प्रार्थना करते हैं कि चरण कमल का सहारा रहे और नाम धन की प्राप्ति हो जिससे कि ये सब अवस्थाएं प्राप्त हों और विदेह मुक्ति मिले।

राधास्वामी नाम पर फिर किसी दिन सत्संग दूंगा।

होशियारपुर
25-12-91

मेरे परमतत्व अंश लालचन्द,

राधास्वामी परमदयाल जी सहाय।

आपक पराप्रेममय आत्मानुभव से ओत-प्रोत अति प्यारा पत्र मिला। इसे पढ़कर आपके प्रति केवल नीचे दिए गए शब्द लिखने की प्रेरणा हो रही है :--

तुझमें एक अनेक कहां है, यह भी भूल विकारा ;
राधास्वामी दया रूप लख अपना, तू व्यापक संसारा।
लालियां, रूप तेरा अति प्यारा।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मेरे और आपके बीच से 'तू, और मैं का पर्दा हट गया है। तू मैं हो गया और मैं तू हो गया। यह तो अवश्य ही होना था। इसीलिए तो परमदयाल जी न अपनी परम दया क दो रूपों को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टि से मिलाया। मैंने जो कुछ भी आप से कहा वह उन्हीं की पर.धारा से प्रेरित हो कर कहा। आपने उसे सुना, सुनकर अमल किया, जिसके फल-स्वरूप मेरी ही सहज अवस्था तुम्हारी सहज अवस्था में बदल गई। यद्यपि इस अनुभव को लिखने की आवश्यकता नहीं, फिर भी इसे अवश्य लिखा जाता है। सम्भवतया इस आदान प्रदान से अगम की अनन्त धारा अधिक वेग से वहने लगती

है और उमड़कर सत्संग में बदल जाती है। हमारा-आपका पत्र व्यवहार एक उच्चतम सत्संग है जिसे पढ़ने और सुनने से अनेक साधकों को प्रेरणा मिल सकती है। इसलिए इस पत्र को सम्हाल कर रखना और मिलने पर "मानव मंदिर" में प्रकाशन के लिए दे देना अस्तु। यह रही बात आत्मानुभव की। आपने ठीक ही लिखा है कि मेरा राजस्थान का दौरा मौज आधीन है। शीघ्र ही इस प्रोग्राम को मानव मन्दिर में छपवा दिया जाएगा। आप जयपुर और भीलबाड़ा के सत्संगों पर भले ही इस पत्र को सुना देना। शेष आपका पत्र आने पर। आपको, आपके परिवार को तथा समस्त सत्संगो मानव परिवार को हार्दिक आशीर्वाद और राधास्वामी।

आपका फकीरमय

मानव

VASANT SATSANG TOUR PROGRAMME 1993

Date		
11-1-1993	Monday	Nagpur
12-1-1993	Tuesday	,,
13-1-1993	Wednesday	Aheri
14-1-1993	Thursday	,,
15-1-1993	Friday	,,
16-1-1993	Saturday	Karim Nagar
17-1-1993	Sunday	Vemulvada (Karim Nagar)
18-1-1993	Monday	Armoor
19-1-1993	Tuesday	Nizamabad
21-1-1993	Thursday	Arrived to Hyderabad Satsang Chintal Basti Anjaya Auditorium Masabtank, Hyderabad Morning : 6 to 8 p.m. Evening
22-1-1993	Friday	Kabirdera Chakanwadi Goshamehel Evening : 6 to 8 p.m.
23-1-1993	Saturday	Andhra Saraswati Pari Shat Bugulkunta ABIDS Evening : 6 to 8 p.m.
24-1-1993	Sunday	Lalkhminaray an Temple General Bazar, Secundrabad Morning : 9-30 a.m. to 12-30 p.m.
25-1-1993	Monday	Hanam konda (Satsang)
26-1-1993	Tuesday	,,
27-1-1993	Wednesday	,,
28-1-1993	Thursday	Arrival to Delhi

For Information Contact :

International Society of Homanestic Teachings

15-8-441/1/B Fheel Khana, Hyderabad-12

SECRETARY

Tele : 45569, 557235, 44143

Manav Mandir

ENGLISH SECTION

A Paper devoted to the Social, Cultural and Spiritual Welfare and Uplift of Mankind all over the World.

BE MAN

December 10th, 1992

MANAVTA MANDIR
Hoshiarpur (Pb.) India

Chapter XX

The Tiresomeness and Its Remedy

by

Data Dayal Maharshi Shiv Brat Lal Ji Maharaj

One should work, but work in such a way that one is not exhausted. There is nothing better than this. But the question is whether it is possible. It is an important and interesting question. The answer is that everything is possible in this world of ours. Even the impossible can become possible. Just as it is possible to accomplish everything in this world, similarly, there is also a possible remedy for tiresomeness or exhaustion. The illusion of a person is a great obstacle in the way of man's knowledge, try to understand it. There certainly is the remedy not to get tired in spite of doing your work or performing your duty. This remedy is very simple. Two things should we remembered, the first is to lead a natural

and spontaneous life, the second is to understand the purpose of your life.

You see that all the powers of nature continue to work day and night continuously, but they don't get exhausted. Do the sun, the moon and the stars stop functioning ! They are continuously functioning. They never think of tiresomeness. Similarly the other sources or powers of nature never get tired. It is possible that one may say that the forces of nature don't get tired, because they are non-living. But it is not true. If they had no life, how could they function or perform their duty. No non-living thing can move or work. The function or work is done only by living beings only. All the planets and sattellite which are visible in the sky are not lifeless, they are full of life so are the birds, insects and animals. There is no difference among them.

A person who performs his dutly or works honestly with the idea that work should be done wholeheartedly with pleasure never gets tired. He enjoys his work, but people who work with the idea that they have to work without taking interest do get tired. Thought has a great power, if you give negative thoughts to your mind it gets weak and does'nt enjoy working. This subtle thing can be understood only when you pay

attention to it.

Even one second of one's life is not devoid of activity. Man works all the time and so do the other creatures of the creation. But men, I mean the human beings who get tired, in reality they are not tired, but they feel tired because of their thinking. One inhales, the breath, holds it and then exhails it all the time. This is also action or activity. These are functions which are called Rechak, Poorak and Kumbhak (inhailing, holding and exhailing) in the language of Yoga. These three activities are being performed not only by human beings, but all the creatures of the world all the time. Do you ever get the feeling of tiresomeness, while breathing, inhailing or exhailing ? No, why, because they are your involuntary activities. But in our voluntary actions we feel tiresomeness. Why ? Because we entertain the idea of tiresomeness ourselves.

Thought has a great power. When the feeling or thought of tiresomeness enters into one's mind, one feels tired and one loses the enthusiasm to work, one does not work according to the aim of nature, because of one's negative thought. The mind is not stable. It does change according to the circumstances. It is the natural tendency of mind to be affected by the change.

If its change is spontaneous and according to

nature then there is no danger of calamities, frustrations and fear. Yes, when negative thought which is contrary to the law of nature is entertained in the mind one gets into trouble.

One's craziness or abnormality of mind is only due to the change of the vanue of the mind. Similar is the case with the intelligent and knowledgeable persons. We can know from the activities of small children, how their mind work. They are the best examples for grown up people. The children never seem to get tired. Do they ? No, they don't, Why ? Because children are pure, they don't entertain bad or negative thoughts in their mind. Their activities are spontaneous quite natural and according to the laws of mother nature. But the same innocent and pure children, when become adults, then the condition of their mind changes. Why can a child work more than an adult. Because his mind is pure, not conteminated, while the adults who get negative thoughts by the suggestions and impressions of the outwardly circumstances, influence of wrong education and environment.

What sort of work one should undertake and how should one perform one's duty ? Every kind of work is honourable. Work should be done wholeheartedly. It should be performed for the sake of

blame hardwork as a cause are never happy. But people who consider hardwork, as their duty, as their dedication never get exhausted.

This is just an example to make you understand the cause of your tiresomeness.

The dedicated hardworking people can never put in the situation of starving and nakedness. Nature does provide them with the necessities of life. By working hard one's body becomes strong and mother nature takes care of him in every possible way. When one understands this secret of hardwork, one never gets tired after working so hard.

A BRIEF NOTE

1. The hardworking people never over eat, over sleep and do not speak too much. All these three vices are unnatural tendencies. The food should be taken in moderate quantity, only that much, which your body needs. Too much sleep makes you lazy and it is against the law of nature. Similarly talking too much is a vice. It does drain all your energy and leaves you weak.

2. Drinking too much water is also bad for your health.

3. Look at me and my daily routine. I dedicate

most of my time in the persuit of writing and reading. I run two magazines without the help of anybody, though it seems impossible to believe how a man can lookafter two magazines single handed. But I never get exhausted. I never get frustrated, always remain happy. Why ? Because I concentrate my mind into the work and enjoy it. I do all my duties spontaneously and naturally without any tension. When I am absorbed in writing books, score of people come to visit me everyday, but I am not disturbed, nor do I get angry. I talk to them and listen to their problems with a natural smile. I give Satsangs (discourses) for hours and also spend a lot of time in responding to dozens of letters sent by people everyday. I never get tired or I never complain to anybody in spite of this hardwork.

(4) The work of a tired person is lifeless and dry.

(5) The hardworking people enjoy rest, even when working, because their work is done spontaneously and naturally.

A famous Persian great man says,

"The waking consciousness and dream consciousness is the same for me."

Journal Man Magan Feb. 1936 pp. 13-19

Why Man has Appeared on this Earth ?

A Disccurse delivered in Delhi to Mrs. Elizabeth Bettie At Kinson of Virginia Beach U.S.A.

By

H. H. Param Dayal Pandit Faqir Chand Ji Maharaj

Dear daughter ! I may question you, what are you ? Can I know what you are ? Can I know where is your self ? Can I know what is the purpose of your life on this earth ? I have not been able to find an exact answer to these complex questions, which may give full satisfaction to me. Even then I believe that you do exist. If I say that you do not exist, then my own existence will also be denived. How can I say that you do not exist, when I do experience my own existence and also the existence of the external world. When I see the earth, the sun, the moon and the stars, how can I say that they do not exist and you do not exist ? I had promised my

spiritual father that I would share my experiences with others. Here comes a young lady from a far of land, who wants to know the secret of existence. I don't think that I have an authority to satisfy the curiosity of this young lady completely. But I would try to explain and express my views to satisfy her curiosity.

I always feel the presence of my Lord, my God of the Cosmos, of the stars, the sun, the moon and all human beings. I started worshipping God when I was only seven years old. I worshipped Him in many physical forms according to Hindu mythology. This helped me in concentrating my attention within myself and experiencing mental manifestations. Instead of visiting temples for worshipping idols, I created these idols in my mind, prayed to them and worshipped them. At home I worshipped and performed all the rituals (which were taught to me) mentally and not outwardly. I even offered food and flowers to the idols mentally. My mother got annoyed with me, because I did not worship the idols in a traditional Hindu way. At last I stopped worshipping and bathing the idols and began to meditate on my own concept of God in the form of Rama and Krishna. I offered flowers and food only mentally. I did experience the actual sight of Rama and Krishna, both inside myself and outside in front of me I was extremely

happy. During those years I did experience many miracles. Once I went to a holy place. As I was walking, I saw the image of Lord Krishna face to face. It walked ahead of me. When he stopped, I also stopped. The image told me to swallow the cow dung, lying on the road. I obeyed the order. After a while I thought that nowhere in the history of Hindu religion is there any example, where Rama or Krishna had asked a devotee to eat cowdung. This led me to realize that the image which appeared before me could not be real God.

I prayed to God, "Oh God ! appear before me as a human living being, so that I may see you face to face, talk to you personally and embrace you." I cried for twenty-four hours continuously. Everybody thought that I was mentally sick my, mother started crying. During my crying I suddenly saw the image of my spiritual father Hazur Data Dyal Maharishi Shivbrat Lal Ji Verman, I had a dialogue with him. He gave me his address.

I started writing letters to him. I used to write one letter every week. I wrote for ten months, but there was no response. I was so eager and yearning to hear from him that I used to walk three miles daily to the post office in the expectation to receive his

letters, which never came. When I was utterly disappointed after ten full months I did receive his letter, in which he wrote, "I received all your letters in time I appreciate your patience and devotion. I have attained the highest state of Supreme Reality and eternal peace with the grace of my Spiritual Father, my Master, who was of Radhaswami Faith. If you want to see and meet me, come to Lahore." This letter of the Master thrilled me. I immediately made plans to get leave and rushed to Lahore the next day I was thrilled to see my spiritual father. He was exactly the same, whom I had seen in my vision and was wearing the same clothes, which I had seen during that vision. He was very compassionate to me and initiated me into Radhaswami Faith. He gave me some books by Saint Kabir and the literature of Radhaswami Faith. This literature contained new information about the Religion of the Saints, which was quite different from the common religion. According to the tenets of the faith, the Creator of this universe was painted as cruel. These ideas were absolutely new for me. But I decided to follow this path of saints sincerely with great devotion and also determined that I would share the experience which I would gain with the whole world. I have fulfilled my promise. All this was due to my accumulated Karmas, without which I would not have realized the truth.

All the cases reported to me, by those who consider me to be the guide and master have confirmed my belief that the appearance of my image as Faqir to them is due to their earnest prayer to God, the Lord, who makes them see my forms. Their thoughts create my form. Just as man is the creator of his thoughts and forms, similarly there is a universal Creator, a Universal Person, whose thought has created the entire nature, the cosmos and the individual souls. The desire of this Universal Man or Supreme Person (Param Purusha) has brought about the existence of the individual minds and souls. According to Hindu Philosophy this Param Purusha is the cause of creation. According to the Hindu Philosophy, the physical gross matter is the body of the Supreme Person. This is called Prakriti. The mind of that Supreme Person is called Mahat, His soul or self is light, which is called Jyotirmaya Purusha, or the self, which is illuminated. The Supreme Self has omnipotence. The earth may be considered as His body in the world. The rivers may be regarded as His arteries, the mountains His bones and the vegetables, as His hair. All these organic parts of the Universal Man are sustained by the great power or omnipotence of the Creator. The creator has also created man, but He is not concerned about him. He has given man the freedom to choose the right or

the wrong path. He is not even concerned with the world in this sense. The material laws govern the matter, the biological law govern the life. There is the survival of the fittest in the biological world. The stronger animal eats the weaker. In this sense, the Universal Creator may be considered to be cruel. We human beings are also cruel because we produce children not for their well-being, but only to satisfy our sex urge. Do we ever think what will happen to them. Do we ever worry that they will die in accidents, suffer from terrible and incurable diseases ?

In this world of ours there is suffering and violence. Man uses different kinds of poison to kill germs and bacteria. Are we not cruel ? Children are arrogant to the parents and so are the parents to the children. Brothers are against brothers and nations against other nations. We are witnessing wars and atrocities of the totalitarians and yet we are not awakened. When somebody is involved in accident and is about to die or actually dies some people do come in help the victim, but there are others who came and take away the belongings of the victim, some other arrive at the spot to enquire the cause of the incident and to punish the culprits. There is the fourth category of people, who come to the

scene of accident to comprehend the whole situation and to suggest the remedy for avoiding such catastrophes in furure. The saints belong to the fourth category, they aim at remedying the sufferings of the world. They tell us that we should realize the Surat or Self, which is the source of all physical, mental and spiritual energy. The saints turn their attention not to the worship of God, who is the Creator of the universe, but to the realization of the Pure Self. Their concept of God is higher than the religious concept of God, as the Creator. It goes beyond the personal aspect of God.

There are two approaches to self-realization. The first is the way of leading a balanced, cheerful and peaceful worldly life with a positive attitude. This method leads to physical, mental and spiritual joy and happiness. The other way leads us beyond creation. The first method gives us worldly happiness and peace, but the second leads to, Nirvana (liberation), having attained which, there is no return.

Every individual should think positively and enjoy the bliss of this life through goodwill. Our thoughts should always be pure and auspicious. The parents should create children with good intentions and not for sexual pleasure only. The parents

should create or produce children for the sake of children, unwanted children are a curse for society. Have you noticed that all over the world the younger generation is revolting against the older one ? Why ? Because most of the children all over the world are mainly the products of sexual satisfaction only. They are unwanted children. They were not conceived with good intention and pure thoughts. The parents should adopt the role of good goodness, who puts the seeds carefully. The mothers are the nation builders and creators of the leaders and saints. They can and should inculcate good ideas in the minds of their children. This would be true baptism, as compared with the formal and ritualistic baptism. The thought force can move mountains. Jesus Christ could perform miracles, because of his controlling the thoughts. But thoughts effect only the proper recipient who has real faith.

According to the law of nature everyone reaps the fruits of his actions or Karmas. The thoughts of a person or group of persons remain in the atmosphere and continue to influence the persons and events of the world. The present destructive tendencies all over the world are indicative of the fact of such polluted atmosphere, created by evil thought. I had written a book "Real Independence" in which I had

mentioned that this polluted atmosphere of the earth would cause famines, earthquakes, wars and epidemies. During the past twenty years this prophecy has come true. Thought is the greatest force which can move the cosmic rays of light, whose original source is God and a part of it exists in human soul or Atman. It has been established that the cosmic rays are the cause of material creation. Since our thought can cause cosmic vibrations, it alone is responsible for the calamaties, which human society all over the world faces today.

In that small book entitled "Real Independence", I had stated that even great persons like Jesus Christ and Mahatma Gandhi, in spite of being so noble, good and loving, did suffer. Why ? They suffered for the bad vibrations, emanating from their conscious or unconscious temporarily angry attitudes indicative of their hatred. Why was Mahatma Gandhi shot dead ? I think inspite of being the leader of non-violence, he must have entertained some evil thoughts, may be against the Britishers. Jesus Christ was no doubt the true lover of God. But there is evidence to show that many times he did burst into fits of anger, used harsh language and even did beat the money changers in the Jewish temples. That is why he had to suffer on the cross at least physically. I do not mean to undermine the greatness of Jesus

Christ or that of Mahatma Gandhi. But what I mean to say is that even hatred towards evil and evil doers does pollute the mental atmosphere and brings sufferings to its generator.

A true saint does not hate even the evil or the evil doer. They behave in the same way towards the good and the evil persons. Let me give you the example of my spiritual father and guide Data Dayal Ji Maharaj. When he was living at Lahore, he knew a richman who had a prostitute as his concubine. Whenever the rich man came she also accompanied him to pay her respect to Data Dayal Ji Maharaj. Data would stand with folded hands and bow to her respectfully addressing her as "Mother." Data also used to stay at the residence of that rich man, when he was invited to stay. People criticized Data because of his staying at the house of a prostitute. But Data said, "I do not care for the peoples' criticism I have come in this world for the upliftment of such souls."

My dear daughter ! You have asked me to explain to you how the creation came about ? My answer to your question is that the entire creation is the outcome of thought or desire. The Cosmic Person or God created this world by His desire or the wave of thought. His first wave of thought created man, or

BOOK POST

Regd No. 26265/74 **DEC. 10th 1992**

MANAV MANDIR **PB HSP—5**

Address ..

976 Sh. Shinde Vithal,
11/E S/o Arjan Rao Gouligu a
Post & Tq Banswada.
Distt. Nizamabad. (AP).

From :

M A N A V A T A M A N D I R
SUTEHRI ROAD,
HOSHIARPUR . 146 001
PHONE : 22639

Shiv Dev Rao Press Manavata Mandir, Hoshiarpur (Pb.)

the individual soul. Then followed the material creation of the cosmos. This thought of God arises from that aspect of God, which is called Kal or time. That is why I say that in all the cases where people see my form prove this truth that thought is the creator. The first man, who was created by the thought of God was without woman. He was called Manu. Manu further created woman by his desire and thus the human creation came into existence.

There are many examples found in the history of the world that children were created by mere thought without any sexual intercourse In the great Hindu epic Mababharata such example is given. A great sage created three children through three women by merely looking at them. So you see thought has a wonderful power. That is why I say again and again that everybody should entertain pure, good and positive thoughts in their mind. My daughter ! the spiritual path is not easy to follow. One should not forget that the Karmas, the actions, performed during many previous lives have a very strong effect, which sometimes hinder your progress. The impressions of your past Karma cannot be easily erased. I retired from service in 1943. I was a very honest zealous and vigorous worker all my life. Since I was associated with railroads,trains and engines, so even now at the age of eighty three I still dream of railroads.

railway stations, trains and accidents very often. I must emphasize that the effect of the past Karmas or actions has a great significance in spiritual progress. When the people are benefitted from me, that is not because of my personality, but they are benefitted because of their own Karmas. I become only the means. Dear daughter ! I had promised my spiritual father that I will share my true experience with others, I am speakirg the truth. I have disclosed the secret which had been guarded by the other spiritual teachers.

Dear daughter ! I think I have given you enough food for thought. You can choose the name 'Radhaswami' as your Mantram if you wish. 'Radha' means Soul or Self and 'Swami' means Lord, real God or Guru. The external Guru is needed in the beginning, because one is too weak to believe or have faith in the internal Guru. In the beginning one has to pass through the physical and mental stages, but later on one begins to love God in the form of Light and Sound. Ultimately one comes to love God in one's own Self. I have passed through all these stages. Now I have reached the highest stage of Samadhi (deep meditation) in which I surrender my whole self to the Supreme Being. The

lower stage is comparable to milk. The butter is present in milk and yet one does not enjoy the taste of butter. After the milk has been churned and butter has been separated, one gets the real taste, while eating that butter.

Man is Higher than Ideologies

by

H. H. Manav Dayal Ji Maharaj

Dr. Ishwar Chandra Sharma

Man is higher than ideologies, because it is man who conceives an ideology and not the ideology which conceives man. Reassertion of economic, social, political and spiritual values is the crying need of the whole world today. Democracies and Communistic countries both claim to aim at the well being of man and international peace. The goal can be achieved, if we recognize the importance of human values. Man is man, whether he lives in the Orient or in the Occident. His needs and urges, his appetites and desires and his joys and sorrows are always the same. Once this aspect of human nature is realized, ideological and cultural differences will automatically vanish. The hackneyed lines, "East is East and West is West, and never the twain shall meet," is outdated, outmoded and false. No attitude of provincialism and seclusion is possible today on the part of any country or culture. The world is

as science has taken long strides, ethics has lagged behind ; science has been worshipped and has received adoration, morality has been pushed into the background. This is the main cause of the confusion and chaos which has led the contemporary world to the brink of committing nuclear suicide. It is in the face of these circumstances that the concept of value ought to be regarded as most significant from the economic, social and moral points of view. Sociologists and philosophers should cast off their bias and see that philosophy does not become the "handmaid of science" in our times, as it became the handmaid of religion in the middle ages. Contemporary society, in spite of being regarded as progressive, is most reactionary and conservative with regard to its tenacity in being the blind follower of science and the so-called scientific technique. Why should the results of science not be subjected to critical and rational estimation, and be harmonized with the value aspect of human nature ? Science is the outcome of human nature and so is value. Science is the symbol of human culture, and so is value. Science and morality, fact and value, and description and appreciation constitute the whole man and both exist because of man and for man.

Even if science were taken as the sole guide of all human activity, we cannot set aside the fact that

human personality is one whole, and that it is not subject to atomic analysis so far as the understanding of human behaviour is concerned. The contribution of the Gestalt, the psychoanalytic and existentialist schools of contemporary psychology have driven us to the conclusion that it is impossible to reduce human personality to the mechanical laws of causality. For the proper understanding of human psychology and human behaviour we should never overlook the person as a whole, his physical, physiological make-up, his biological urges, his social, economic and spiritual motivation, and the interaction of heredity and environment. The unique dynamism of the human individual, which in spite of the acceptance of the continuity of the evolution of life, still marks him off as "the image of God" and "the crown of creation." If evolution is a process which is continuous and creative, the rational, self-conscious, appreciative, moral and spiritual aspects of man must have been somehow potentially present in the primaeval nebulae and hence value, whether at the moral or at the spiritual level of human existence, is not supernatural in the sense of being something. "beyond nature, behind nature and other than nature."

The need of adhering to economic, social, moral and spiritual values is demanded by the dynamic

nature of man, because he is a whole of the physico-biological ethico- social and spirituo rational urges. Since psychology, in its recent researches, has brought out the fact that one-sided development of human personality is the cause of neuroses and mental diseases, it goes without saying that, psychologically speaking, equal attention to the integrated satisfaction of human urges is most important. It is from this point of view that I consider economic, social, moral and spiritual values to be of great significance in man's life. Economic values, which greatly influence the present structure of society in all parts of the world, are undoubtedly most important and even basic. No individual, no community, no nation can boast of being moral without adequately satisfying the physico-biological urges of man through the production of wealth, or economic value. A prosperous country, a country which has achieved economic well being, automatically eliminates many social evils and wards off moral degeneration.

But the satisfaction of the physico-biological urges of man is not the end in itself. A philosophy of life which aims at equalizing or levelling down society economically, is not the answer to the integrated development of human personality. Human beings are not mere material product; minds cannot be

lumped into one mass and made quantitatively equal and proportionate. Communism commits this fallacy in its attempt to bring about social well-being. But it defeats its purpose, with the result that it brings about suppression and regression ins'ead of development and evolution. In a communistic regime where wealth alone is supposed to be the ultimate end of life, individual freedom of thought, feeli g and action is thwarted, religion is relinquished,spiritualism is suppressed, the family is sacrific·d and the individual is reduced to a mere cog in the social machinery. In such a form of government natural growth of thought and culture are hampered, man is reduced to an automation, life to a mechanical routine. Mind is subjected to matter, individual freedom to the laws of the commune, and parental affection towards children to the husbandry of the state.

Similarly, extreme individualism and complete freedom in the economic field may lead to the concentration of wealth in a few persons who grow extraordinarily rich and may thus keep an overwhelming majority of the people poor and frustrated, thereby fostering social evils. Owing to the prevailing poverty in underdeveloped democracies, the few rich persons can purchase votes and capture political power. They can monopolize trade and grow richer while the poor

become poorer. All the abuses of wealth, over-spending in luxuries, indulgence in intoxicants etc., are likely to crop up. This happens when wealth alone is considered the highest value in a society. Ultimately ethical values are subordinated to the mad pursuit after wealth, and humanitarianism gives place to formalism. Art, literature, science, in short, the entire cultural fabric of the society and state may come under the sway of a plutocracy which corrupts man and curbs freedom. This economic slavery of man may spread gradually, and for centuries the people who fall victim to it may not even realize that their spirit is being subordinated to flesh and their conscience to callousness. Free enterprise raises the material standards of living by increasing the wants of the society, by providing every individual with all the amenities and comforts of life, and by giving him the opportunities to "eat, drink and be merry" even to the extent of drinking himself to death. But at the same time, it blunts the human spirit, murders morality, kills love, dismembers family life, disrupts social institutions and fosters fastidious divorces, split personalities, neuroses, complexes and suicides, thereby creating an unconscious hatred for man in the human mind. The outward glamour of life is accompanied by inner gloom in the mind of individuals. The need of the hour, therefore, is the emphasis on individual

freedom and totalitarian tendencies. This can be done when equal attention is paid to the inculcation of economic, social, moral and spiritual values.

By adopting spiritual discipline in life, the integrated development of body, mind, reason and spirit is possible and such a development is not antagonistic to the material and mundane progress of mankind. Thus the present need is a serious study of the intuitive method of approach, so far as the value aspect of human life is concerned, without at the same time jeopardizing the analytic method in the sphere of science and facts. A synthesis of intellect and intuition, of science and ethics, and of secular and spiritual life can lead to the emergence of a world culture which would be through and through a human culture. This can be accomplished by laying an equal emphasis on economic, social, moral, and spiritual values in human life.

— — —

The Necessity of Religion
A Discourse of Swami Vivekananda
Delivered in London

Of all the forces that have worked and are still working to mould the destiny of the human race, none, certainly, is more potent than that of the manifestation which we call religion. It is obvious to all of us that the bonds of religion have proved stronger than the bonds of race, or climate, or even of descent. It is a well-known fact that persons worshipping the same God, believing in the same religion, have stood by each other, with much greater strength and constancy, than people of merely the same descent, or even brothers. Various attempts have been made to trace the beginning of religion. In all the ancient religions which have come down to us, we find one claim made by all the religions---that they are all supernatural and have been generated by the human brain, but somewhere outside of it.

Two theories have gained some acceptance amongst modern scholars. One is the spirit theory of religion

and the other the evolution of the idea of the Infinite. One maintains that ancestor worship is the beginning of religious ideas ; the other, that religion originates in the personification of the powers of nature. Man wants to keep up the memory of his dead relatives and thinks that they do live, even when their body is dissolved. That is why a man wants to place food for them and in a certain sense, worships them. Out of this belief came the growth, which we call religion.

Studying the ancient religions of the Egyptians, Babylonians,Chinese and many other races in America and elsewhere, we find clear traces of this ancestor worship being the beginning of religion. With the ancient Egyptians the first idea of the Soul was that of a double. They believed that every human body contained in it another being very similar to it ; and when a man died, this double went out of the body but yet lived on. The life of the double lasted only as long as the dead body remained intact. That is why the Egyptians kept the dead body uninjured and built huge pyramids,in which they portio-nan ypreserved the dead bodies. The believed that even if of the external body was hurt,the double would also be injured. This is clearly ancestor worship. Among the ancient Hindus also, we find traces of this ancestor worship. Among the Chinese, the basis of their religion may also be said to be ancestor worship,and it

still permeates, the length and breadth of that vast country. Thus ancestor worship was the beginning of religion.

But on the other hand, there are scholars, who throw light on ancient Aryans who believed that religion originated in nature worship. In the Rig-Veda Samhita, the most ancient record of the Aryan race, we do find the worship of nature.

The human mind seems to struggle to peep behind the scenes. The dawn, the evening, the hurricane the stupendous and gigantic forces of nature, its beauties etc., have exercised the human mind and it aspires to go beyond, to understand something about them. In this struggle people endow these phenomena with personal attributes, giving them souls and bodies, sometimes beautiful sometimes transcendent. Every attempt ends by these phenomena becoming abstraction, whether personalized or not. Similar is the case with the ancient Greeks. Their whole mythology is simply this abstracted nature worship. So is the case with ancient Germans, the Scandinavians, and all the other Aryan races.

These two views, though they seem to be contradictory, can be reconciled on a third basis, which to my mind, is the real germ of religion. I propose to transcend the limitations of the senses.

Man usually either goes to seek for the spirits of his ancestors (the spirits of the dead) or he wants to get a glimpse of what happens after the dissolution of the body, or he desires to understand about the power, working behind the stupendous phenomena of nature. Whatever may be the case, one thing is certain, that man tries to transcend the limitation of the senses. He cannot remain satisfied with his senses and wants to go beyond them. To me it seems very natural that the first glimpse of religion should come through dreams. The first idea of immortality man may get through dreams. Is the state of dreams not the most wonderful state ?

The mind has a great power. All the religions believe that the human mind, at certain moments transcends not only the limitations of the senses, but also the power of reasoning.

We find one characteristic common in all the religions, that they are all abstractions as contrasted with the concrete discoveries of physics. In all the highly organised religions the purest form of Unit Abstraction is taken, either in the form of an Abstracted Presence, as an Omnipresent Being, as an abstract Personality, called God. as a Moral Law, or in the form of an Abstract Essence, underlying every existence. In modern times too the attempts made

to preach religions without appealing to the Supersensuous State of the mind have given different names to them as 'Moral Law', 'The Ideal Unity' and so forth, thus showing that these abstractions are not in the senses.

Every human being has an ideal of infinite pleasure. Most of the works that we do, are done to get infinite Pleasure. But this infinite pleasure cannot be obtained through senses, because senses are too limited. Body is also too limited to express the Infinite. To express the infinite through the finite is impossible, and sooner or later, man learns to give up the attempt to express the infinite through the finite. This giving up, this renunciation is the background of ethics. There never was an ethical code preached which had not renunciation for its basis.

Man has to give up the plane of matter and rise to other spheres to seek a deeper expression of that Infinite. Perfect self annihitation is the ideal of ethics. People are startled, if they are asked not to think of their individualities. They are afraid of losing what they call their individuality.

Utilitarian standards cannot explain the ethical relations of men, because we cannot derive any ethical laws from considerations of utility. Any system that

wants to bind men down to the limits of their own societies is not able to find an explanation for the ethical laws of mankind. Ethics itself is not the end, but the means to the end. If the end or ideal is not there, why should we be ethical or moral ? Why should I do good to others and not injure them ? If happiness is the goal of mankind, why should I not first make myself happy ?

Man is man, as long as he struggles to rise above nature. It is grand and good to know the laws and govern the stars and planets, but it is very important to know the laws that govern the passions, the feelings, the will of mankind. This conquering of the inner man, understanding the secrets of the subtle working that are within the human mind, and knowing its wonderful secrets, belong entirely to religion.

Religion is the greatest motive for realizing that infinite energy, which is the birth-right and nature of every man, In building up character, in bringing peace to others and peace to one's own self, religion is the highest motive power and,therefore, ought to be studied on a broader basis than formality. All narrow, limited, fighting ideas of religion have to go. All sect ideas and tribal or national ideas of religion must be given up. That each tribe or nation should have its own particular God and think that every other

is wrong, is a superstition that should belong to the past. All such negative ideas must be abandoned.

The religious ideas of the future must embrace all that exists in the world that is good and great and at the same time have infinite scope for future development. All that was good in the past must be preserved, and the doors must be kept open for future additions to the already existing store. Religions must be inculsive, and not look down with contempt upon one another, because, their particular ideals of God are different Religious ideas will have to become universal, vast and infinite. Some people say that religions are dying out, of the world. To me, it seems that they have just begun to grow. The power of religion, broadened and purified is going to penetrate every part of human life, penetrate every pore of human society and will definitely be more a power for good than it has ever been before.

The donation made to the Faqir Library Charitable Trust (Regd.) Sutehri Road, Hoshiarpur is exempted Under Section 80 G. of the Income-Tax Act 1961 as per letter of the Commissioner Income-Tax Jalandhar Letter No. JUDL./TRUST/13999/14001 Dated 31-12-91 upto year ending 30-3-1994.

राधास्वामी नाम-ध्वनि

राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ।
अलख अगम और अनामी ।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ।
परम सन्त का रूप धरा, जीवों पर उपकार किया।।
सीधा सच्चा मार्ग दिया, आये धुर पद धामी।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी।।
बन कर आये परम फ़कीर, हरने सब जीवों की पीर।
परम दयालु दानी वीर, नाम दान के दानी ।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ।।
राम भी हो और कृष्ण भी तुम ।
तुम महावीर और बुद्ध गौतम ।
अक्षर ब्रह्म और पुरुषोत्तम, सब नामों में अनामी ।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ।।
मानवता का किया प्रचार, निज अनुभव का दे दिया सार।
ऐसे गुरु को बारम्बार, नमामि नमामि नमामि ।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ।।
दाता दयाल के प्यारे तुम, मानव के रखवारे तुम ।
निर्गुण और सगुण भी तुम, सब के अन्तर्यामी ।
राधास्वामी, राधास्वामी, राधास्वामी ।।

सभी सत्संगी जन को सूचित करते हर्ष हो रहा है कि परमसंत सद्गुरु हिज़ होलीनेस हज़ूर मानवदयाल डॉ. आई. सी. शर्मा जी महाराज का परा आध्यात्मिक सत्संग 3 जनवरी 1993, को प्रात: 9 बजे से सालवान पब्लिक स्कूल, ओल्ड राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली के सभा भवन में आयोजित है ।

BOOK POST

Regd No. 26265/74 DEC. 10th 1992

MANAV MANDIR PB HSP—5

Address

976 Sh. Shinde Vithal,
H/E S/o Arjan Rao Gouligu(a
Post & Tq Banswada.
Distt. Nizamabad.(AP).

From :

MANAVATA MANDIR
SUTEHRI ROAD,
HOSHIARPUR . 146 001
PHONE : 22639

Shiv Dev Rao Press Manavata Mandir, Hoshiarpur (Pb.)